Reg. No. 124726035RC0001 ISSN : 2562-6086

पुस्तक भारती रिसर्च जर्नल

Our Golden Heritage

January-March 2022

पुस्तक भारती रिसर्च जर्नल

PUSTAK BHARATI RESEARCH JOURNAL

A Peer Reviewed Journal

त्रैमासिक शोध पत्रिका

वर्ष- 4, जनवरी –मार्च , 2022, अंक – 1

प्रधान संपादक : डॉ. रत्नाकर नराले

सह संपादक : डॉ. राकेश कुमार दूबे

रिव्यू कमेटी

डॉ. प्रो. तंकमणि अम्मा, तिरुवनन्तपुरम्

प्रो. हेमराज सुंदर, मारीशस

डॉ. करुणाशंकर उपाध्याय, मुंबई

प्रो. डॉ. शांति नायर, केरल

डॉ. सिराजुद्दिन नुर्मतोव, उजबेकिस्तान

प्रो. दक्ष्य मिस्त्री, बड़ोदा

प्रो. कृष्ण कुमार मिश्र, मुंबई

संपादक मण्डल

प्रो. सोमा बंद्योपाध्याय, पश्चिम बंगाल

प्रो. अरुणा सिन्हा, वाराणसी

प्रो. विनोद कुमार मिश्र, त्रिपुरा

प्रो. उमापति दीक्षित, आगरा

प्रो. उपुल रंजीथ हेवावितानागामगे, श्रीलंका

डॉ. मैरम्बी नुरोवा, ताजिकिस्तान

प्रो. दर्शन पाण्डेय, दिल्ली

परामर्ष मण्डल

डॉ. तुलसीराम शर्मा, कनाडा

डॉ. मनोज कुमार पटैरिया, नई दिल्ली

डॉ. एन. के. चतुर्वेदी, जोधपुर

प्रो. नीलू गुप्ता, अमेरिका

डॉ. मृदुल कीर्ति, आस्ट्रेलिया

प्रो. कमलेश शर्मा, कोटा

संरक्षक मण्डल

डॉ. यशवंत पाठक, अमेरिका

श्री रतन पवन, अमेरिका

श्री पंकज पटेल, अमेरिका

पत्रिका का मूल्य / सदस्यता राशि संस्था के सेंट्रल बैंक ऑफ इंडिया, मंगारी के खाता संख्या 5144696109 (IFSC: CBIN0281306) में जमाकर उसकी सूचना मेल या नं. +91-7355682455 पर दें।

अनुक्रमणिका

संपादकीय

1.वैदिक साहित्य का वैश्विक संस्कृति में मूलावदान 1
डॉ. ज्योत्स्ना द्विवेदी

2. हिन्दूधर्म के मूल तत्व 7
(महामना पं. मदनमोहन मालवीयजी की अवधारणा)
प्रो. दीनबन्धु पाण्डेय

3.The Features of Ancient India's Linguistics 15
Prof. Dr. Zilola Khudaybergenova

4. नवजागरणकालीन आलोचना और 28
आचार्य रामचंद्र शुक्ल
डॉ.करुणाशंकर उपाध्याय

5.आदिवासी विमर्श : इतिहास, संघर्ष और प्रासंगिकता 36
मोहन कुमार

6. मॉरीशस के हिन्दी कथा-साहित्य में व्यक्त सांस्कृतिक 43
चेतना
डॉ. कृष्ण कुमार झा

7. अर्थवत्ता खोते समय–समाज–संबंध–सैद्धांतिकी 53
की यथा–कथा
डॉ. आनंद पाटील

8. आधुनिक साहित्यिक हिन्दी में प्रचलित पूर्ण 62
संख्यावाचक शब्दों का उद्गम एवं विकास
डॉ. सिराजूद्दीन नुर्मातोव

9. रामकथा : भारतीय समाज का पथ-प्रदर्शक 68
डॉ. सुलोचना दास

10. प्रेमचंद की कहानियों का मनोवैज्ञानिक आधार 78
डॉ. संजय कुमार

संपादकीय कार्यालय

Toronto, Ontario, Canada, M2R
email : pustak.bharati.canada@gmail.com
Web : pustak-bharati-canad.com

प्रबंध एवं वितरण

Pustak Bharati (Books-India)Publishers & Distributors
H.No. 168, Nehiyan,Varanasi-221202, U. P. India
email: pustak.bharati.india@gmail.com

* प्रत्येक शोध-पत्र में व्यक्त विचार लेखक के अपने हैं। संपादक मंडल का उससे सहमत होना आवश्यक नहीं है।

संपादकीय

रत्नाकर नराले

श्रीमती महादेवी वर्मा

1907-1987

पुस्तक भारती रिसर्च जर्नल के मुख पृष्ठ पर बहुत आदर से चलाई हुई हमारी भारतीय सांस्कृतिक सुवर्ण विरासत शृंखला में पहली बार हम महिला साहित्यकार को सहर्ष गौरवान्वित कर रहे हैं. इस पवित्र कार्य के लिए इस संस्करण में हम पद्म विभूषण, पद्म भूषण और ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित हिंदी जगत की सुवर्णतुल्य महान कवयित्री महादेवी वर्मा का चयन कर रहे हैं जिसके कारण यह शृंखला अधिक चमक उठेगी, यह विश्वास है.

हिन्दी साहित्य की गद्य-पद्य शिरोमणि महादेवी वर्मा जी का जन्म 26 मार्च, 1907 को उत्तर प्रदेश के फर्रुखाबाद में हुआ था. परिवार में सात पीढ़ियों के पश्चात कन्या-रत्न का जन्म होने के कारण उनके माता-पिता ने कन्या का नाम भगवती 'महादेवी' रख दिया. विवाह विस्फोट के बाद महादेवी जी संन्यासिनी का तटस्थ जीवन जीने लगी. महादेवी वर्मा बाल्य काल से ही कवयित्री थीं. महादेवी जी सुभद्रा कुमारी चौहान की सखी थीं. सन् 1932 में महादेवी वर्मा ने प्रयागराज. विश्वविद्यालय से संस्कृत में एम.ए. किया. अब वे 'चाँद' नामक पत्रिका का सम्पादन करने लगीं. समय के साथ प्रयागराज के महिला विद्यापीठ की कुलपति बन गईं.

महादेवी जी ग्राम-ग्राम घूम कर उत्पीड़ित जनों की सहायता करती हुईं समाज-सेविका बन गई. मानवता की सेवा करना एक दायित्व मान कर इन्होंने सन् 1944 में प्रयागराज में साहित्यकार संसद संस्था स्थापित की. महादेवी वर्मा जी की कविताओं में कल्पना की प्रधानता होती थी. आप ने गद्य क्षेत्र में भी उत्कृष्ट रचनाओं का सृजन किया. इनकी भाषा अत्यंत सशक्त तथा संस्कृतिनिष्ठ थी. हिन्दी साहित्य जगत में महादेवी वर्मा को श्रेष्ठ स्थान प्राप्त है. हिन्दी के सुवर्ण मंदिर की मंगल देवी सरस्वती स्वरूप महादेवी वर्मा का देहांत 11 सितंबर, 1987 को प्रयागराज में हो गया. उन्होंने अपनी त्रिकालजयी रचनाओं के माध्यम से हिन्दी-साहित्य जगत में सर्वदा के लिए अमरत्व को प्राप्त कर लिया. हिंदी साहित्य के क्षेत्र में अनूप योगदान के लिए महादेवी वर्मा चिरकाल के लिए स्मरणीय रहेंगी. महादेवी वर्मा जी की मंगल स्मृति को पुस्तक भारती की ओर से शत-शत नमन.

1

वैदिक साहित्य का वैश्विक संस्कृति में मूलावदान

डॉ. ज्योत्स्ना द्विवेदी

"अच्छिन्नस्य ते देव सोम सुवीर्य्यस्य रायस्पोषस्य ददितारः स्याम।

सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा स प्रथमो वरूणो मित्रोऽग्निः।। (यजु.–7/24)

'विद् ज्ञाने' धातु से 'वेदेषु विहितः' इस अर्थ में ठक् प्रत्यय करके 'वैदिक' शब्द सिद्ध होता है जिसका अर्थ है– वेदों से व्युत्पन्न या वेदों के समरूप या वेदविषयक। इसी प्रकार 'सम्' उपसर्ग पूर्वक 'कृ' धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय लगाने पर संस्कृति शब्द निष्पन्न होता है। सामान्यतः इसका अर्थ है भूषण भूत सम्यक्–कृति, सुधरी हुई स्थिति, उत्तम कार्य, आचरणगत परम्परा आदि।

मनुष्य एक बुद्धिजीवी, प्रगतिशील, समाजिक प्राणी है। वह अपने परिवार की, समाज की, जाति की, देश की तथा विश्व की प्रगति के लिये अपनी बुद्धि का प्रयोग करता रहता है। मनः प्रसूत ऐसे विचार, अनुसन्धान और चेष्टाएँ एक विशिष्ट परम्परा का निर्माण करती हैं, वही संस्थापित परम्परा 'संस्कृति' शब्द में अन्तर्भूत है। वास्तव में संस्कृति का सम्बन्ध बुद्धि एवं स्वभाव के साथ होते हुये समस्त उन तत्वों की समष्टि है जिससे मानव–जीवन नियन्त्रित– व्यवस्थित या समुन्नत होता है।

वैदिक संस्कृति विश्व की प्राचीनतम् संस्कृति है। इससे विश्व की सभी संस्कृतियॉ प्रभावित रही हैं, यह तथ्य सर्वमान्य है।

वेद मानवमात्र के लिए प्रकाश–स्तम्भ है। वेदों का ज्ञान विश्व संस्कृति की आधार शिला है। वेदों ने ही विश्व में सर्वप्रथम ज्ञान और विज्ञान का प्रसार किया है। वेदों की ज्योति विश्व–बन्धुत्व, विश्वकल्याण और विश्वसमृद्धि की प्रेरक है। वेद ही आद्य ज्ञान ग्रंथ हैं, जिन्होनें विश्व–संस्कृति और विश्व–सभ्यता का मार्ग प्रशस्त किया है। वेद ज्ञान की राशि एवं धर्म तत्व के मूल हैं।[1]

वेद एवं वैदिक साहित्य, सांस्कृतिक और सामाजिक चेतना के मूल रहें हैं। वैदिक साहित्य ने न केवल भारतीय संस्कृति का परिष्कार किया है, अपितु विश्व–संस्कृति के परिष्कार का श्रेय वैदिक वाङ्मय को है। पाश्चात्य जगत् भी वैदिक वाङ्मय अनुशीलन से उतना ही लाभान्वित हुआ है जितना भारतवर्ष। सुप्रसिद्ध पाश्चात्य वेदज्ञ विद्वान् मैक्समूलर ने अपने ग्रंथ में अपने अनवरत वेदाध्ययन के निचोड़ को इन शब्दों में अभिव्यक्त किया है–''मानव जाति का अध्ययन करने के लिये संसार का कोई भी साहित्य वैदिक साहित्य की बराबरी नहीं कर सकता।''[2]

वैदिक साहित्य के अन्तर्गत वेद, ब्राह्मणग्रन्थ, उपनिषद् वेदांग, स्मृतिग्रन्थ, आरण्यक आदि आते हैं। मानवीय संस्कृति के मूल तत्व इन्हीं ग्रंथों से प्रस्फुटित हैं। ऋषियों ने अपनी उर्वरा मस्तिष्क से अनुसन्धानकृत जिन सूत्रों को मानव के समग्र विकास के लिये उपदिष्ट किया, वे सूत्र सार्वभौम देश, काल, परिस्थितियों की सीमा से परे हैं। इस महान् संस्कृति के वैश्विक विकसित स्वरूप को प्रतिपदित करने के लिये इसे हम निम्न श्रृंखलाओं में आबद्ध कर सकते हैं–

1. वैदिक संस्कृति के पांच आधार स्तम्भ–

मनुष्य ने प्रकृति पर विजय पा ली है। उसने पृथ्वी की अधिकतम गहराई एवं अन्तरिक्ष में ग्रहों तक ऊचाई को नापा है। परन्तु विजयी मनुष्य के सामने प्रश्न है कि यह पैमाना ज्यादा ऊॅचा कौन सा है? बाह्य उन्नति का या आभ्यान्तरिक उन्नति

का? सिकन्दर, मुसोलिनी, नेपोलियन, हिटलर ने सब कुछ जीता पर भारत के सन्त के सामने, जिसके पास लॅगोटी के सिवाय कुछ नहीं था, उसके सामने हार गया था। भीतर को नापने का पैमाना महर्षि पतंजलि ने दुनियॉ के सामने रखा है वे हैं–''तत्राहिंसा–सत्यास्तेयब्रह्मचर्य परिग्रहाः यमाः''[3] तथा ''शौचसन्तोष तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणि धानानि नियमाः''।[4] अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य ये पांच यम हैं। 'यम' आत्मा की साधना है अर्थात् भीतर की साधना। 'नियम' बाहर की साधना है। इस दिशा में वैदिक संस्कृति की घोषणा है कि ईश्वर का नाम लेना भी उतना महत्वपूर्ण नहीं जितना यमों का पालन करना महत्वपूर्ण है। मनुस्मृति का कथन है –

यमान् सेवेत सततं न नियमान् केवलं बुधैः।
यमान् पतव्य कुर्वाणः नियमान् केवलान् भजन्।।[5]

महर्षि पतंजलि ने अहिंसा आदि यम को सार्वभौम महाव्रत की संज्ञा दी है–''जाति–देश–काल–समयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्[6]''। सार्वभौम का अर्थ है–जो हर देश काल तथा जाति पर एक सा लागू हो। समाज के मूलभूत मौलिक तत्वों की खोज करने वाले पतंजलि मुनि का कहना है कि अहिंसा आदि सार्वभौम महाव्रत हैं, सार्वभौम सिद्धान्त हैं। आज हमारे सामने दो संस्कृतियाँ हैं–भौतिकवादी संस्कृति तथा आध्यात्मवादी संस्कृति। बेशक भौतिकवाद का विस्तार हुआ है तथापि झूठ, चोरी, व्यभिचार, हिंसा और अतिइच्छा का समर्थन विश्व की कोई भी संस्कृति नहीं कर सकी।

2. वैदिक संस्कृति की खोज–आध्यात्मिक एवं भौतिक जगत् में–

वैदिक साहित्य की विचारधारा के अन्तर्गत भौतिक जगत्, जो विज्ञान का क्षेत्र है और आध्यात्मिक जगत् जो धर्म का क्षेत्र है, दोनों में एक ही नियम काम कर रहा है, जिसे तीन तत्वों में बॉटा जा सकता है। वह नियम है–किसी वस्तु का अस्तित्व, उस अस्तित्व का क्रियाशील होना तथा उसकी क्रियाशीलता में उसका प्रयोजन होना। ये तीन तत्व भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों जगतों में एक समान पाये जाते हैं। तीनों क्रमों के–'है'–होना'–किसी 'प्रयोजन के लिये होना'' तथा वेदान्त की परिभाषा में–'अस्ति'–'भाति'–'प्रीति' यह कहा जा सकता है। हमारे समाज में मनुष्य कई स्तरों में पाये जाते हैं। कई मनुष्य केवल 'अस्ति' स्तर के हैं–वे सिर्फ हैं और उनका जीवन 'है' तक समाप्त हो जाता है। कई मनुष्य 'अस्ति' के आगे बढ़ जाते हैं–उनका विकास होता है, वे 'भाति' के स्तर तक पहुँच जाते हैं, वे सिर्फ 'हैं' ही नहीं 'हो रहे' होते हैं, समाज के लिये कुछ उपयोगी काम भी करते हैं। 'प्रीति' स्तर पर वे मनुष्य पहुँचते है जो मानव मात्र, प्राणिमात्र को मित्र की दृष्टि से देखते हैं–

''यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न वि चिकित्सति।।''[9]
''यस्मिन्त्सर्वणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।।''[10]

अर्थात् जो मनुष्य सभी जड़ चेतन में अपने को समान देखता है, पूरी सृष्टि के सुख दुःख को अपनी आत्मा के समान अनुभव करता है, वही विद्वान् होकर सुखी होता है। इसी आशय की पुष्टि गीता में भी की गयी है।

''विद्या विनय सम्पन्ने'' तथा 'इहैव तैर्जितः सर्गो. इत्यादि।[11]

वैदिक साहित्य में मनुष्य की समस्त इच्छाओं को तीन भागों में बांटा है–पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा। सात्विक, राजसिक और तामसिक वृत्ति से उत्पन्न एषणाएँ भिन्न–भिन्न कालों में द्वन्द्वात्मक स्थितियाँ उत्पन्न करती हैं जिसे देवासुर संग्राम[12] कह सकते हैं। वेदों और उपनिषदों में द्वन्द्वों का समन्वय किया गया है। प्रकृति–पुरूष, भोग–त्याग[13], कर्म–निष्काम, व्यक्ति–समाज, अविद्या–विद्या, भौतिक–अध्यात्म, अज्ञान–ज्ञान, मृत्यु–जन्म, विनाश–उत्पत्ति, सगुण–निर्गुण ब्रह्म इनका समन्वय ही यथार्थ–दृष्टि है। व्यक्तिवाद अविद्याजन्य है तथा समष्टिवाद ही विद्याजन्य है। यहाँ एक बात स्पष्ट जाननी चाहिये कि वैदिक साहित्य में 'अविद्या' का अर्थ भौतिक विज्ञान तथा विद्या का अर्थ ब्रह्म विद्या से है–''सम्भूतिं च विनाशं च

यस्तद्वेदोभयं सह, अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते[14]'' अर्थात् अविद्या से या विज्ञान से केवल मृत्यु अर्थात् सांसारिक दुःखों से तर सकते हैं परन्तु अमृत को नहीं प्राप्त कर सकते।

3. विश्वबन्धुत्व–

वैदिक साहित्य अनन्त हैं तथा गम्भीर हैं। वैदिक युग के मनीषियों तथा लोकातीत आर्ष चक्षुर्मण्डित द्रष्टाओं की वाणी में सार्वदेशिक तथा सार्वकालिक नैतिकता और धर्म की मूल प्रेरणाओं का स्फुरण होता रहा है, जो आज विश्व के मानवों को सन्मार्ग पर ले जाने की क्षमता रखता है। वैदिक ऋषियों की दृष्टि से सत्यमार्ग ही जीवन यात्रा का मुख्य उपयोगी साधन है– ''सुगा ऋतस्य पन्थाः।।[15]'' ''सत्यस्य नावः सुकृतमपीपरन्[16] = सत्य की नाव ही मनुष्य को पार लगाती है। वेद मनुष्यों को कर्मठ, देशभक्त तथा परोपकारी बनने की शिक्षा देता है–''न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः[17] बिना स्वयं परिश्रम किये देवों की मैत्री नहीं प्राप्त होती है। वह सम्पत्ति को मानवों में बॉट देने की शिक्षा देता है– ''शत–हस्त समाहर सहस्रहस्त संकिर[18]''– सैकड़ों हाथों से इकट्ठा करो और हजारों हाथों से बाँट दो।

''एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति''[19] से एकत्ववाद का उपदेश है। प्राणिमात्र में एक ही चैतन्य व्याप्त हो रहा है। प्राणिमात्र को परस्पर बन्धुत्व की गहनीय भावना से ओत–प्रोत होना चाहिए। अथर्ववेद का यह मंत्र इसका पोषण करता है–

''सहृदयं सामनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्योऽन्यमभिनवत वत्सं जातमिवाघ्न्या।।[20]

अथर्ववेद का संज्ञान सूक्त मानवों के परस्पर सौहार्द्र, सहानुभूति तथा मैत्री के लिये आदर्श है। विश्वशान्ति और विश्वबन्धुत्व की उदात्त भावना से ओतप्रोत वैदिक मंत्रों में–''मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे'' के आशय अत्यन्त श्लाघनीय हैं।

दार्शनिक, धार्मिक, आर्थिक एवं सामाजिक तथा वैज्ञानिक शिक्षा का मूल स्रोत वैदिक साहित्य ही है। वेदों और ब्राह्मण ग्रंथों में सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, शैक्षिक, नैतिक व्यवस्था का चित्रण है। दार्शनिक दृष्टि से दशम् मण्डल ऋग्वेद का नवनीत है। इसमें कुछ उच्च दार्शनिक, आध्यात्मिक और वैज्ञानिक भाव वाले प्रसिद्ध सूक्त[22] हैं–मनोविज्ञान (सूक्त 58,165) भाषा विज्ञान (सूक्त 71) सृष्टि उत्पत्ति (सू0 72,81,121) पुरूष (सूक्त–90) आयुर्वेद (सूक्त 97,16), वीरता (सूक्त 103), दान सूक्त (117) अध्यात्म सूक्त (123) वाक्सूक्त (125) नासदीय सूक्त (129) हिरण्य गर्भसूक्त (1.121) आदि। अथर्ववेद का उन्नीसवाँ काण्ड भूगोल विषयक धरोहर है। शिक्षा पद्धति के लिये अथर्ववेद[23] का 11वाँ एवं 19वाँ काण्ड। भोज्य पदार्थ के लिए यजुर्वेद के 18वें अध्याय के एक ही मंत्र में 12 अन्नों के नाम गिनाए गये हैं। वस्त्र एवं परिधानों एवं अर्थव्यवस्था से सम्बन्धित अथर्ववेद एवं ऋग्वेद में अनेकों उदाहरण भरे पड़े हैं।[25] विश्व को विज्ञान को सूत्र वैदिक साहित्य से प्राप्त हुए है विशेषकर गणित के क्षेत्र में अमूल्य योगदान है यथा–कर्ण निकालने की विधि जिसे पैथागोरस का प्रमेय[26] के नाम से जाना जाता है बौधायन, आपस्तम्ब एवं सूर्यसिद्धान्त में इसका वर्णन है। पृथ्वी सूर्य की प्रदक्षिणा करती है–ऋग्वेद 10,22,14, यजुर्वेद 3,6 सूर्य न उदय होता न अस्त ऐतरेय ब्रा. 3.44, गोपथ ब्राह्मण 2.4.10, चन्द्रमा में सूर्य का प्रकाश है–यजुर्वेद 18.40, निरूक्त 2.6, सूर्य में हिलियम एवं हाइड्रोजन गैसें–अथर्ववेद 7.10.1, यजुर्वेद 9.3, ऋग्वेद 1. 164.14, अथर्ववेद–14.12 ऋग्वेद 1.101. 1–2–3। सौर ऊर्जा ऋग्वेद–1.163.2, यजुर्वेद 29.13 आकर्षण शक्ति का सिद्धान्त–ऋग्वेद–10. 85.1 तथा 10.149.1 यजुर्वेद 5.16 इत्यादि अनेकशः सिद्धान्त वैदिक वाङ्मय में निर्दिष्ट[27] हैं।

विश्व की विभिन्न संस्कृतियों में वैदिक संस्कृति का प्रभाव–

वैदिक साहित्य की गंगा देश–देशान्तर में कहाँ तक बही इसे जानने के लिये भाषा विज्ञान तथा शब्द–शास्त्र बहुत सहायक है। भाषाविज्ञान में इसे आर्य भाषा एवं सेमेटिक भाषा के रूप में विभाजित किया गया है। यहाँ कुछ वे ही

उदाहरण दिये जा रहें हैं जो अतीव विख्यात एवं संस्कृति के पोषक के रूप में हैं। पारसियों की धर्म–पुस्तक 'जेन्दावस्ता' में परमात्मा कहता है कि मेरा नाम 'अम्हि यदम्हि' है। 'अम्हि' शब्द संस्कृत के 'अस्मि'[28] का अपभ्रंश है। यहूदियों तथा ईसाइयों की धर्म–पुस्तक 'ओल्ड–टैस्टामेंट' की 'एक्सोडस' में भी परमात्मा मूसा को कहता है मेरा नाम 'I am that I am' है। यहूदियों ने परमात्मा का नाम पारसियों से लिया है। यजुर्वेद के 40वें अध्याय में 'योऽसावसौ पुरूषः सोऽहमस्मि' आता है। 'सोऽहमस्मि' का ही जेन्दावेस्ता में 'अम्हि' एवं बायबिल में 'I am' बना है। यजुर्वेद[30] के दूसरे अध्याय में ''इदमहं य एवास्मि सोऽस्मि' आता है। इसका वही अर्थ है जो पारसियों के 'अम्हि यदम्मिह' अथवा यहूदियों एवं ईसाइयों के 'I am that I am' का है। उपनिषदों में अनेकों स्थानों में 'सोऽहमस्मि' का उल्लेख है। यहूदियों में ईश्वर के लिये एक नाम 'जिहोवा' भी है। लोकमान्य तिलक ने अपनी पुस्तक 'Vedic chronology and Vedang Jyotish' में वेदमंत्रों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि यहूदियों का 'जिहोवा' वैदिक मंत्रों का 'य; [31] ही है। यहूदी भी आर्यो की तरह अग्नि के उपासक थे। (बायबिल के अनुसार जब मूसा उन्हें मिस्र से निकाल कर कैनान ले जा रहा था, तब जिहोवा अग्नि का रूप धारण कर उनका मार्ग प्रदर्शन कर रहा था–बाइबिल पुराना नियम)।

ग्रीक लोगों का परमात्मा 'जीयस' या डियोस्' संस्कृत भाषा के 'द्यौस् शब्द से निष्पन्न है। वैदिक संस्कृत में 'द्यौस्[32] शब्द परमात्मा के लिये प्रयुक्त होता है।

रोमन लोग परमात्मा के लिए 'जुपिटर' शब्द का प्रयोग करते है जो संस्कृत के दो शब्दों द्यु+पितर से बना है।

जिस प्रकार भारतीय स्मृतिकार 'मनु' है उसी प्रकार यहूदियों का स्मृतिकार 'मोजेज्' ईजिप्ट का स्मृतिकार 'मेनस्' ग्रीक लोगों का स्मृतिकार 'माइनोज' है। ये सभी शब्द भारत के मनुः के ही रूप हैं। वेबिलोन की मित्तनी एवं खतनी जाति की संधि पट्टिका[33] में साक्षी के रूप में वेदोक्त देवता 'मित्र–वरूण इन्द्र तथा नासत्यौ' का उल्लेख है। ये पट्टियॉ बोगजकाई नामक स्थान पर मिली हैं।

वैदिक साहित्यिक धर्मो और सेमेटिक धर्मो में कई आश्चर्य–जनक समानतायें हैं जैसे 'ओल्ड टेस्टमेंट' का 'ट्री ऑफ नॉलेज' और ऋग्वेद के प्रथम मंडल के 32वें सूक्त में वर्णित विषय वस्तु। ऋग्वेद में ''अहिः शयत उपस्पृक्त पृथिव्याः'' अर्थात् 'अहि' सॉप पृथिवी पर आ गिरा। बायबिल में लिखा है–Upon thy belly shalt thougol' सृष्ट्योत्पत्ति में सेमेटिक धर्मो में 'नूह' के तूफान की परिकल्पना शतपथ ब्राह्मण के 'मनुः' के तूफान वर्णन से ली गयी है।

अगर वैदिक तथा सेमेटिक धर्मो के आधारभूत मूल–तत्वों, पर दृष्टिपात किया जाय, तो स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक विचारधारा के मुख्य सिद्धांतों को किसी न किसी रूप में सब धर्मो ने अपनाया है। योगदर्शन के 5 यमों और 5 नियमों की व्याख्या सभी धर्मों में है। बौद्धों में दीक्षा या उपसम्पदा के समय यही दस आदेश दिये जाते हैं। ईसाई धर्म में एक कथानक है कि–जिहोवा ने मूसा को मौण्ट सिनाई पर बुलाकर दो पट्टियों पर 'खुदाई फरमान' लिखवाया जिसमें दस आज्ञाएँ यहूदियों को दी गयी थीं। उन दस आज्ञाएँ में से आठ इस प्रकार हैं–

1. Thou shalt not kill (अहिंसा)
2. Thou shalt not steal (अस्तेय)
3. Thou shalt not bear false witness (सत्य)
4. Thou shalt not covet (अपरिग्रह)
5. Have no other God bet Jehovah (ईश्वर प्रणिधान)
6. Make no imago for the purpose of worship
7. Not to work on Sabbath day (तप)
8. Honour the parent (संतोष)

वैदिक संस्कृति पुनर्जन्म[36] और मृत्यु के तीन दिन बाद जीव का शरीर में गमन का सिद्धान्त भी लगभग सभी सेमेटिक धर्मो में पाया जाता है।

पाइथोगोरस, प्लेटो ने भी इनकी व्याख्या की है। सेंट आगस्टाइव ने लिखा है–Did I not live in another body before entering my mother's wond- क्या मैं अपनी माता के गर्भ में आने से पूर्व मौजूद नहीं था? कठोपनिषद् में नचिकेता ने यम के द्वार पर तीन दिन तक प्रतीक्षा की।[38] पारसियों में मरने के तीसरी रात बाद आत्मा 'मिथ्र' देवता के यहाँ पहुँचती[39] है। इस प्रकार वैदिक साहित्यिक विचारधारायें पूरे विश्व की संस्कृति को प्रभावित करती रहीं हैं।

संसार की सबसे उन्नत और विकसित संस्कृति वैदिक संस्कृति ही है। इसके विस्तारित स्वरूप ने ही विश्व के सभी लोगों को जीवन का उपदेश किया[40] है। श्रेष्ठ बनने के गुर सिखाया है।[41] एकत्व एवं प्रेम–भाइचारे का संदेश दिया[42] है, भिन्न विचारवाले होकर भी एक हैं, यह बताया[43] एक आदर्श मानवीय चरित्र का संदेश दिया है।[44] मनु का कथन इस तथ्य को प्रमाणित करता है[45]–

एतद् देश प्रसूतस्य सकाशाद्ग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः।।

संदर्भ :

1. 'सर्वज्ञानमयो हि सः' – मनुस्मृति 2.7। 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' – तदेव 2.6।
2. India- what can it teach us
3. योगदर्शन, साधनपाद, 2/30.
4. तदेव 2/32
5. मनुस्मृति – 4.204
6. योगदर्शन –2/31/
7. वेदान्तसार– अध्यारोप, चतुः सूत्री शांकरभाष्य।
8. नीतिशतक– आहासनिद्रा– भय–मैथुन.....
9. शु. यजुर्वेद– अ. 40/6/
10. तदेव– 40/7।
11. गीता– 5.18–19
12. शतपथ ब्राह्मण–1.1.2.17
13. ईशा..... कस्य स्विद्धनम्' –शु.यजु. 40 1 तथा ईशोपनिषद्1.1।
14. शु.यजु. –40.6।
15. ऋग्वेद, 8.3.13
16. ऋग्वेद – 9.73.1।
17. तदेव – 4.33.11।
18. अथर्व.–3.24.4।
19. अथर्व.– 3.30.6।
20. तदेव– 5.19.1।
21. तदेव–3.30।
22. यहाँ मात्र स्फुट दिग्दर्शन है, इस विषय के लिये देखें– वैदिक वाङ्मय का इतिहास, वैदिक सम्पत्ति आदि ग्रंथ।
23. ''शं सरस्वती सह धीभिरस्तु'' (19.11.2) आचार्यो ब्रह्मचारी. (11.5.16 और 17) अथर्व 6.4.3, 6. 108.2, 17.1.7
24. यजु.– 18.12। तैत्तिरीय संहिता –4.7.5। ''कृष्णानां व्रीहिणाम्0'' तैत्ति.–1.8.10.1।
25. ऋग्, 6.5.4, 1.140.3, 8.31.8, यजु.– 30.9, अथर्व. 14.11.17 18.4.31। विशेष अध्ययन के लिए देखें – सूर्यकान्त का वैदिक कोष।
26. पैथागोरस का प्रमेय है–"That the square on the hypoten use of aright- angled triangle is equel to the sum of the squares on the other two sides.
''दीर्घचतुरस्रस्याक्ष्णया एजुस्ति0..... तदुभयं करोति क्षेत्रज्ञानम्'' बौ.शु 1.48 का शु. 2.115, आ.शु.–1.7, सूर्यासिद्धांत गणितपाद–17
27. विशेष के लिए देखें वेद विद्या निदर्शनम्–पं. भगवद्दत्त।
28. अस भुवि– धातुपाठ अस्ति=है।
29. यजुर्वेद–40.17।
30. ''अग्ने व्रतपते ..... तन्मेऽराधीदमहं यऽएवाऽस्मि सोऽस्मि'' यजुर्वेद 2.28। तुलनीय – ''अहं ब्रह्मास्मि'' चिन्मात्रोऽहम्'' सदाशिव' वेदान्तसार।
31. ऋग्वेद् सायण भाष्य द्रष्टव्य।
32. ''आजुह्वान ..... यह्व होता0 '' ऋग्0 10.1103। हु दानादनयोः'' धातु से 'जुहोति' = जिहोवा बना।

33.मित्र के लये – मि.इत्–अस, वरूण को व्–अर–रू–उण्–उस इनु को – इन्–ह–र, नासत्यौ को ना–स–अति–इय इस प्रकार लिखा है। द्रष्टव्य–Theogony of the Hindus, P.108 तथा H.of S.L. by Macdonell.

34.ऋग्वेद– 1.32.3,7,5

35.शत ब्रा. – 10, 5, 3, 4 तथा 8, 1, 4, 10।

36.हजरत मसीह ने 'सरमन ऑन दी माउण्ट' में इन्हीं पांच नियमों की व्याख्या की है।

37.देखे पुनर्जन्म मीमाँसा– ले.प्रो. विश्वनाथ विद्यालंकार तथा वैदिक विचारधारा का वैज्ञानिक आधार ले. सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार।

38.तुलनीय– 'पुनर्नो असुं पृथिवीः ऋग्वेद – 10. 6.12।

39.'तिस्रो रात्रीः यदवात्सीः गृहे मे' कठो.। यम = मृत्यु, नचिकेता = जिज्ञासु जीव।

40.जेन्दावेस्ता – 19वें फरगार्ड के 28वें भाग में वर्णित।

41.''श्रृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः'' यजुर्वेद –11. 5।

42.''कृण्वन्तो विश्वमार्यम्0'' ऋग्. 5,29,10।

43.ऋग् 10.192.2, अथर्व. 19.51.1, अथर्व 3.30।

44.अथर्व.– 12.1.45।

45. अथर्व0–12.1.60 तथा 12.1.1।

सहायक प्राध्यापक (संस्कृत)
शा.श. के. स्नातकोत्तर महाविद्यालय
मऊगंज रीवा, मध्य प्रदेश

2

हिन्दूधर्म के मूल तत्व
(महामना पं. मदनमोहन मालवीयजी की अवधारणा)

प्रो. दीनबन्धु पाण्डेय

महामना पण्डित मदनमोहन मालवीयजी ने हिन्दूधर्म को संसार के समस्त धर्मों से श्रेष्ठ माना है–

उत्तमः सर्वधर्माणां हिन्दूधर्मोऽयमुच्यते।
रक्ष्यः प्रचारणीयश्च सर्वलोकहितैषिभिः॥

मालवीयजी द्वारा स्वरचित श्लोक[1]

हिन्दूधर्म को सब धर्मों से उत्तम धर्म कहते हैं। सारे संसार का उपकार चाहने वाले लोगों को उचित है कि इस धर्म की रक्षा और इसका प्रचार करें।[2]

मालवीयजी ने हिन्दूधर्म की अवधारणा की सुन्दर प्रस्तुति माघकृष्ण अमावास्या, वि. सं. 1990 में प्रकाशित अपनी लघु-पुस्तिका *हिन्दूधर्मोपदेश* में किया है। इस प्रस्तुति में समस्त स्त्री-पुरुषों के लिये सार रूप में निडरपन, सच्चाई, चोरी न करना, ब्रह्मचर्य्य, धीरज और क्षमा का अमृत के समान सदा सेवन करने की सलाह दी गई है –

अभयं सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्य्यं धृतिः क्षमा।
सेव्याः सदाऽमृतमिव स्त्रीभिश्च पुरुषैस्तथा॥[3]

महामना मालवीय ने हिन्दूधर्म की मूलभूत मान्यताओं को अति प्राचीन काल से प्रचलन में होने से इसे 'सनातन' शब्द से अभिहित करते हुये 'सनातनधर्म' की संज्ञा दी –

श्रुतिस्मृतिपुराणोक्तो वर्णाश्रमविभूषितः।
पुण्यः सत्यदयोपेतो धर्म्मः श्रेष्ठः सनातनः॥[4]

उन्होंने 1906 ई. में कुम्भ के अवसर पर सनातनधर्म का विराट अधिवेशन कराया था। इस अवसर पर *सनातनधर्म-संग्रह* नाम से एक वृहद् ग्रन्थ तैयार किया गया था। मालवीयजी के सभापतित्व में वि.सं. 1984 माघ कृष्ण 11 से शुक्ल 2 तक (1928 ई. जनवरी 18 से 24) 'अखिल-भारतवर्षीय-सनातनधर्म-महासभा' का अधिवेशन हुआ। इसी वर्ष वसन्त-पञ्चमी के दिन काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में सनातनधर्म-महासभा स्थापित की गयी जिसका *सनातनधर्म* नामक साप्ताहिक मुखपत्र 20 जुलाई, 1933 ई. से प्रकाशित किया जाने लगा।

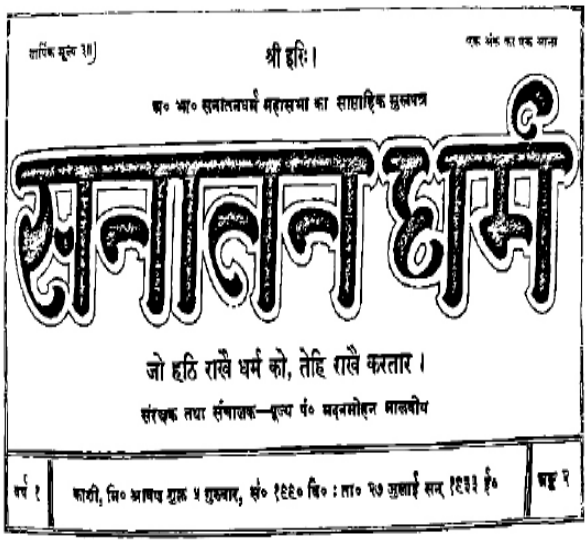
श्री हरिः।

अ० भा० सनातनधर्म महासभा का साप्ताहिक मुखपत्र

सनातन धर्म

जो हठि राखै धर्म को, तेहि राखै करतार।

संरक्षक तथा संचालक—पूज्य पं० मदनमोहन मालवीय

वर्ष १ | काशी, मि० आषाढ़ शुक्ल ५ शुक्रवार, सं० १९९० वि० : ता० २७ जुलाई सन् १९३३ ई० | अङ्क २

इस मुखपत्र के एक अंक (वर्ष 2, अङ्क 1, 17 जुलाई, 1934 ई.) में मालवीयजी ने 'सनातनधर्म' को विधिवत व्याख्यापित किया है।[5]

महानारायणोपनिषद् के एक मन्त्र को उद्धृत करते हुये मालवीयजी ने धर्म ही को सारे जगत् की प्रतिष्ठा (मूलाधार) -- **धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा**[6] -- मानते हुये *उपनिषद्* के अनुसार ही

धर्म ही में सब कुछ प्रतिष्ठित -- **धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितम्** -- मानते हैं। एक प्रसिद्ध उक्ति[7] के अनुसार उनका मानना है कि विद्या, रूप, धन, शौर्य, वीरता, कुलीनता, आरोग्य, राज्य, स्वर्ग और मोक्ष -- ये सब धर्म से प्राप्त होते हैं –

विद्या रूपं धनं शौर्यं कुलीनत्वमरोगिता।
राज्यं स्वर्गश्च मोक्षश्च सर्व धर्मादवाप्यते॥

मालवीयजी की सनातनधर्म की अवधारणा *श्रीमद्भागवत* से गृहीत है जहाँ शुकदेवजी ने नारद ऋषि द्वारा युधिष्ठिर की सनातनधर्म के बारे में जानने की इच्छा की पूर्ति में समस्त मनुष्यमात्र का परम धर्म कहा जाने वाला बत्तीस लक्षणों से युक्त धर्म के बारे में कहा है –

सत्यं दया तपः शौचं तितिक्षेक्षा शमो दमः।
अहिंसा ब्रह्मचर्यं च त्यागः स्वाध्याय आर्जवम्॥
सन्तोषः समदृग्सेवा ग्राम्येहोपरमः शनैः।
नृणां विपर्ययेहेक्षा मौनमात्मविमर्शनम्॥
अन्नाद्यादेः संविभागो भूतेभ्यश्च यथार्हतः।
तेष्वात्मदेवता बुद्धिः सुतरां नृषु पाण्डव।
श्रवणं कीर्त्तनं चास्य स्मरणं महतां गतेः।
सेवेज्यावनतिर्दास्यं सख्यमात्मसमर्पणम्॥
नृणामयं परो धर्मः सर्वेषां समुदाहृतः।
त्रिंशल्लक्षणवान् राजन् सर्वात्मा येन तुष्यति॥[8]

सत्य, दया, तपस्या, पवित्रता, तितिक्षा (सत् असत् अर्थात् उचित अनुचित का विचार) शम (मन का संयम), दम (इन्द्रियों का संयम), अहिंसा, ब्रह्मचर्य, त्याग (दान), स्वाध्याय (जप व अध्ययन), आर्जव (सरलता), सन्तोष, समदृग्सेवा (समदर्शी महात्माओं की सेवा), प्रवृत्ति (सांसारिक भोगों की चेष्टा) के कर्मों से निवृत्ति, विपर्यय अर्थात् मनुष्यों की निष्फल क्रिया का विचार (मनुष्य के अहंकारपूर्ण प्रयत्नों का फल उलटा ही होता है) ऐसा विचार, मौन, देहादि से पृथक आत्मा का अनुसन्धान, यथोचित रूप से प्राणियों को अन्नादि विभाग करके देना, सब प्राणियों में आत्मा और देवता का ज्ञान, श्रीकृष्ण के नाम-गुण-लीला आदि का श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, उनकी सेवा, पूजा, प्रणाम, और दासभाव, उनके साथ मैत्री और उनको अपनी आत्मा का समर्पण करना।

यह तीस लक्षणवाला धर्म, समस्त मनुष्यमात्र का परम धर्म है, जिसके पालन से घट-घट में व्याप्त परमात्मा प्रसन्न होते हैं।

इस धर्म के मूलतत्व का वर्णन *महाभारत* के आश्वमेधिक पर्व में है --

एष धर्मो महायोगो दानं भूतदया तथा।
ब्रह्मचर्यं तथा सत्यमनुक्रोशो धृतिः क्षमा॥
सनातनस्य धर्मस्य मूलमेतत्सनातनम्।
श्रूयन्ते हि पुरावृत्ता विश्वामित्रादयो नृपाः॥[9]

यही धर्म है, यही महान् योग है, दान, प्राणियों पर दया, ब्रह्मचर्य, सत्य, करुणा, धृति और क्षमा — ये **सनातन धर्म** के **सनातन मूल** हैं। सुना जाता है कि पूर्वकाल में विश्वामित्र आदि नरेश इसी से सिद्धि को प्राप्त हुये थे।

प्राचीन ग्रन्थों में कई एक स्थानों पर **सनातनधर्म** का उल्लेख मिलता है जैसे कि *ब्रह्माण्डपुराण*, *स्कन्दपुराण*, *वायुपुराण* एवं *लक्ष्मीनारायणसंहिता*।[10]

समस्त धर्म का मूल मालवीयजी ने मनु की *मनुस्मृति* के कथन **वेदोऽखिलो धर्ममूलम्**[11] **अर्थात्** 'वेद सब धर्म के मूल हैं' के आधार पर यह मानते हैं कि भारतीय परम्परा में -- वेदाङ्ग, स्मृति एवं पुराण सहित चारों वेद -- सभी प्रकार की विद्याओं और धर्म के स्थान हैं जैसा कि याज्ञवल्क्य ऋषि एवं अन्य अपने स्मृति एवं पुराण ग्रन्थ-- *याज्ञवल्क्य स्मृति*, आचाराध्याय, *गरुडपुराण*, आचारकाण्ड - में कहते हैं।[12]

इन उपरिसङ्केतित समस्त आर्ष एवं ऋषि द्रष्ट

साहित्य में सर्वमान्य सबसे पुराना ग्रन्थ है -- *ऋग्वेद*

मालवीयजी के शब्दों में आज सनातनधर्म के मानने वालों को धर्म का मार्ग-दर्शन कराने के लिये श्रुति (वेद), स्मृति और पुराणों के साथ आगम भी सम्मिलित हैं; किन्तु इन सब शास्त्र समूह में, जो धर्म के मूल सिद्धान्त हैं, वे सनातन हैं; अर्थात् सबसे पुराने हैं, उनसे पहले का कोई सिद्धान्त संसार में विदित नहीं है। इन सिद्धान्तों में कुछ मूल सिद्धान्त हैं। सनातनधर्म का शुद्ध स्वरूप और इसकी महिमा जानने के लिये इन सिद्धान्तों का जानना आवश्यक है। वे ये हैं --

प्रथम यह है कि इस ब्रह्माण्ड का सृजन, पालन और संहार करने वाला, त्रिकाल में सत्य (अर्थात् जो सदा रहा भी, अब भी है और सदा रहेगा भी), चैतन्य अर्थात् ज्ञानस्वरूप और आनन्दस्वरूप पुरुष है जिसको परमात्मा कहते हैं। वह आदि (जो सब सृष्टि से पहले), अज (जिसका कभी जन्म नहीं हुआ और जिसका न कोई पिता है, न माता है) और अविनाशी (जिसका कभी नाश नहीं होता) है।

वेद स्पष्टतः कहते हैं कि सृष्टि के पहले यह जगत् अन्धकारमय था। उस तम के बीच में और उससे परे केवल एक ज्ञानस्वरूप स्वयम्भू भगवान् विराजमान थे और उन्होंने उस अन्धकार में अपने को आप प्रगट किया और तप से अर्थात् अपनी अपनी ज्ञानमयी शक्ति के सञ्चालन से सृष्टि को रचा – *ऋग्वेद* के तसम्बन्धी मन्त्र उल्लेख्य हैं --

तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रेऽप्रकेतं
सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्
तपसस्तन्महिनाजायतैकम्॥[13]

एक दूसरे मन्त्र में यह कहा गया है कि परमात्मा से सबसे पहले प्रजापति उत्पन्न हुये, वे उत्पन्न होते ही सब जगत् के स्वामी बने, उन्होंने धरती एवं इस द्यौ को धारण किया --

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥[14]

इसी वेद के अर्थ को मनु भगवान् ने लिखा है कि सृष्टि के पहले यह जगत् अन्धकारमय था। सब प्रकार से सोता हुआ-सा दिखायी पड़ता था। उस समय जिनका किसी दूसरी शक्ति के द्वारा जन्म नहीं हुआ, जो आप अपनी शक्ति से अपनी महिमा में सदा से वर्तमान हैं और रहेंगे, उन ज्ञानमय, प्रकाशमय स्वयम्भू ने अपने को आप प्रकट किया और उनके प्रकट होते ही अन्धकार मिट गया। *मनुस्मृति* में लिखा है --

आसीदिदं तमो भूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
देव एकः॥[18]
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः॥
ततः स्वयंभूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयनिदम्।
महाभूतादिवृत्तीजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः॥
योऽसावतीन्द्रियग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तःसनातनः।
सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः स एव स्वयमुद्बभौ॥[15]

ऋग्वेद कहता है --

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः
पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय
हविषा विधेम॥[16]
य इमा विश्वा भुवनानि
जुह्वदृषिर्होता न्यसीदत् पिता नः।
स आशिषा द्रविणमिच्छमानः
प्रथमच्छदवराँ आविवेश॥[17]

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो
विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्।
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्
यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद

भुवनानि विश्वा।
यो देवानां नामधा एक एव
तं संप्रश्नं भुवना यन्त्यन्या॥[19]

और भी श्रुति, उदाहरणार्थ *ऐतरेयब्राह्मण* कहता है --

'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्'[20]

सनातनधर्म के सब धर्मग्रन्थ दुन्दुभीनाद करते हैं कि वह परमात्मा एक ही है। वेद कहते हैं **"एकमेवाद्वितीयम्"**[21] अर्थात् एक अकेला है, उसके समान कोई दूसरा नहीं।

स्मृति कहती है (मनु, याज्ञवल्क्य आदि) -- सब जगत् का शासन करने वाला, छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा, जिसको आँखों से देख नहीं सकते, केवल बुद्धि से ही पहचान सकते हैं, एक परमात्मा है। *महाभारत* आदि से अन्त तक बार-बार घोषणा करता है --

तस्यैकत्वं महत्वञ्च स चैकः पुरुषः स्मृतः ।
महापुरुषशब्दं स बिभत्कः सनातनः॥[22]

भागवत कहता है --

एकः स आत्मा पुरुषः पुराणः
सत्यः स्वयंज्योतिरनन्तमाद्यः।
नित्योऽक्षरोऽजस्रसुखो निरञ्जनः
पूर्णोऽद्वयोऽयुक्त उपाधितोऽमृतः॥[23]

शिवपुराण कहता है --

एक एव तदारुद्रो न द्वितीयोऽस्ति कश्चन॥[24]

वेद, स्मृति, पुराणों के इसी सिद्धान्त को आगम गाते हैं और इसी को आधुनिक सन्त महात्माओं ने अपने-अपने शब्दों में गाया है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने *रामचरितमानस* में थोड़े अक्षरों में इस तत्त्व का पूर्णरीति से वर्णन किया है --

व्यापक एकब्रह्म अबिनासी ।
सत चेतन घन आनँदरासी ॥[25]

आदि अन्त कोउ जासु न पावा ।
मति अनुमान निगम असगावा ॥
बिनु पद चलै सुनै बिनु काना ।
कर बिनु कर्म करै बिधि नाना ॥
आनन रहित सकल रसभोगी ।
बिनु बाणी बक्ता बड़ जोगी ॥
तनु बिनु परस नयन बिनु देखा ।
ग्रहै घ्राण बिनु बास असेखा ॥
अस सब भाँति अलौकिक करनी ।
महिमा तासु जाइ किमि बरनी ॥[26]

मालवीयजी ने सनातनधर्म्म महासभा के प्रयाग में आयोजित प्रथम विराट सम्मलेन आमन्त्रणपत्र में स्वरचित 'प्रार्थनानिवेदनञ्च' के एक श्लोक में आर्ष-ग्रन्थों में प्राप्त विवरणों के आधार पर सनातनधर्म्म को श्रेष्ठ कहते हुये वर्णाश्रम को भी संयुक्त रखा --

श्रुतिस्मृतिपुराणोक्तो वर्णाश्रमविभूषितः।
पुण्यः सत्यदयोपेतो धर्म्मः श्रेष्ठः सनातनः॥[27]

वर्णाश्रमधर्म्म पर उन्होंने एक लेख *अभ्युदय* पत्रिका[28] में लिखा भी। उन्होंने *हिन्दूधर्म्मोपदेश* के श्लोक 21 में भी *गीता* के श्लोक --

चातुर्वण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।[29]

का आधार लेते हुये वर्णाश्रम को यद्यपि उल्लिखित किया है, किन्तु धर्म्म के मूल तत्त्वों में **अभय, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य्य, धृति** और **क्षमा** को गिनाया है और साथ ही कहा है कि मनुष्य जैसा आचरण दूसरों से अपने लिये नहीं चाहता है वैसे आचरण उसे औरों के प्रति भी नहीं करना चाहिए। *हिन्दूधर्म्मोपदेश* के सन्दर्भित श्लोक निम्नवत उद्धृत हैं --

अभयं सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्य्यं धृतिः क्षमा॥

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥[30]

महामना मालवीयजी का धर्म्म के सन्दर्भ में एक **अनूठी प्रतिष्ठापना** थी- **देशभक्ति** को धर्म्म के

तत्त्वों में समाहित करना।

हिन्दूधर्म्मोपदेश में उन्होंने कहा --

भक्तिमर्हति देशोऽयं सेव्यः प्राणैर्धनैरपि॥[31]

और *अभ्युदय* पत्र में 'देश-भक्ति का धर्म्म' शीर्षक से लेख प्रकाशित किया।[32]

इस सन्दर्भ में उनका स्वरचित श्लोक उद्धरणीय है –-

सत्येन ब्रह्मचर्येण व्यायामेनाऽविद्यया।
देशभक्त्याऽत्मत्यागेन संमानार्हः सदा भव॥[33]

[सत्य, ब्रह्मचर्य, व्यायाम, विद्या, देशभक्ति एवं आत्मत्याग से सदा सम्मान के योग्य बनो।]

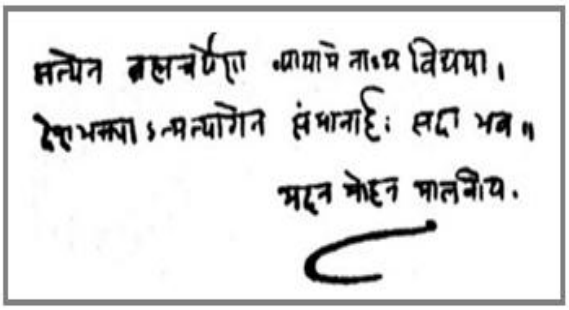

मालवीयजी *श्रीमद्भगवद्गीता* को '**धर्म्म की निधि**' मानते थे, इस सन्दर्भ में उनके द्वारा *कल्याण* नामक पत्रिका में प्रकाशित एक लघु लेख के कुछ अंश उल्लेखनीय हैं --

"मेरा विश्वास है ... ... कि पृथ्वीमण्ल की प्रचलित भाषाओं में ... ... श्रीकृष्ण की कही हुई *भगवद्गीता* के समान छोटे वपु में इतना विपुल ज्ञानपूर्ण कोई दूसरा ग्रन्थ नहीं है। वेद और उपनिषदों का सार, इस लोक और परलोक दोनों में मङ्गलमय मार्ग का दिखाने वाला, कर्म, ज्ञान और भक्ति -- तीनों मार्गों द्वारा मनुष्य को परमश्रेय के साधन का उपदेश करने वाला, सबसे ऊँचे ज्ञान, सबसे विमल भक्ति, सबसे उज्ज्वल कर्म, यम, नियम, विविध तप, अहिंसा, सत्य और दया के उपदेश के साथ-साथ धर्म के लिये धर्म का अवलम्बन कर, अधर्मों को त्याग कर युद्ध करने का उपदेश करनेवाला यह अद्भुत ग्रन्थ है -- जिसमें १८ छोटी अध्यायों में इतना सत्य, इतना ज्ञान, इतने ऊँचे गम्भीर सात्त्विक उपदेश भरे हैं, जो मनुष्य मात्र को नीची-से-नीची दशा से हटाकर देवताओं के स्थान में बैठा देने की शक्ति रखते हैं। मेरे ज्ञान में पृथ्वीमण्डल पर ऐसा कोई दूसरा ग्रन्थ नहीं है जैसा *भगवद्गीता* है।

" गीता धर्म की निधि है। "[34]

मालवीयजी ने पूना की प्रभात चित्रपट-प्रयोगशाला में 1 जनवरी, 1936 को 'सर्वश्रेष्ठ धर्म' विषय पर दिये अपने एक भाषण[35] में कहा था कि –-

"पृथ्वी-मण्डल पर जो वस्तु मुझको सबसे अधिक प्यारी है वह धर्म है।
और वह धर्म सनातन धर्म है।"

"अभी संसार सनातनधर्म के महत्त्व को नहीं समझता। मुझे आशा और दृढ़ विश्वास है कि थोड़े समय में समस्त संसार को यह विदित हो जायेगा कि यह धर्म कैसा और किस प्रकार धर्म के मूल पर स्थित है।"

"सनातनधर्म का मूल,
जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ –
सत्य, दया और न्याय है।"

इस धर्म के बराबर पृथ्वीमण्डल पर
दूसरा कोई धर्म नहीं है।

हिन्दूधर्म के इस सनातन रूप के प्रति मालवीयजी का दृढ़ भाव से समर्पण स्पष्ट है।

इसका आधार *महाभारत* के अनुशासनपर्व के 15वें अध्याय में श्रीकृष्ण द्वारा भगवान् शिव से माँगे गए आठ वरदानों --

धर्मे दृढ़त्वम् युधि शत्रुघातं यशस्तथाग्र्यं परमं बलं च।
योगप्रियत्वं तव सन्निकर्षं वृणे सुतानां च शतं शतानि ॥[36]

में पहला '**धर्म में दृढ़तापूर्वक स्थिति**' -- **[धर्मे दृढ़त्वम्]** –का सन्दर्भ मालवीयजी द्वारा आदर्श रूप में ग्रहण किया जाना है। अपनी स्वरचित ईश प्रार्थना[37] में उन्होंने कहा है –

होय पुत्र प्रभु रामसम अथवा कृष्ण समान।
वीर धीर बुध धर्मदृढ़ जगहित करै महान॥

अपने एक दोहे[38] में भी उन्होंने लिखा है --

अंश उसी के जीव हो करो उसी से नेह।
सदा रहो दृढ़ धर्म चिर बसो निरामय देह॥

महाभारत से वेदव्यासजी के निम्नोद्धृत वचन मालवीयजी उल्लिखित करते हैं –

न जातु कामान्न भयान्न लोभात्
त्यजेद्धर्म जीवितस्यापि हेतोः।[39]

न ह्येष कामान्न भयान्न लोभाद्
युधिष्ठिरो जातु जह्यात्स्वधर्मम्।[40]

किन्तु उद्योगपर्व श्लोक ही प्रसिद्धि प्राप्त है जो *महाभारत* का ही अंग होते हुये भी अलग से *विदुरनीति* के अंग रूप में भी प्राप्त होता है।[41]

इसी आधार पर मालवीयजी लिखते हैं कि किसी सुख या सम्पत्ति पाने की इच्छा से, या डर से, या लालच से और प्राण के बचाने के लिये भी धर्म को कभी नहीं छोडना चाहिए --

जो दृढ़ राखै धर्म को तेहि राखै करतार।[42]

[जो अपने धर्म में दृढ़ रहता है उसकी परमात्मा रक्षा करते हैं।]

मालवीयजी अपने *धर्मोपदेश* में कहते हैं – "**मनुष्य का सबसे बड़ा धन धर्म है**"।[43] इसीलिये बड़े और छोटे कितने प्राणियों ने संकट पडने पर अपने प्राण दे दिए किन्तु अपना धर्म नहीं छोड़ा। न केवल इस लोक में किन्तु परलोक में भी साथ देने वाला एक धर्म ही है। इसलिये भक्त लोग प्रार्थना करते हैं कि -

सिर जावै तो जाय प्रभु मेरो धर्म न जाय।[44]

धर्म की दृढ़ता को ही मालवीयजी ने अपने *सनातनधर्म* मुखपत्र का उद्देश्य-वाक्य बनाया था -- **जो दृढ़ राखै धर्म को तेहि राखै करतार।**

'धर्मो रक्षति रक्षितः' शीर्षक से मालवीयजी ने एक लेख लिखा था।[45] सन्दर्भित श्लोकांश आर्ष-ग्रन्थों में अनेक स्थान पर उल्लिखित हुआ है 'जो धर्म की रक्षा करता है उसकी रक्षा ईश्वर करता है'।[46] सनातनधर्म की रक्षा मालवीयजी का परम उद्देश्य था, अपनी '**प्रार्थना**' शीर्षक कविता में उन्होंने कहा है –

रक्षा होवै धर्म की बढ़ै जाति को मान।[47]

और '**सब देवन के देव**' में सनातनधर्म के मूल विन्दुओं - **सत्य, अभय, दान, ज्ञान, भक्ति, धर्मबल, स्वाधीनता, ज्ञान, भक्ति** -- को उल्लिखित करते हुये यही कहते हैं --

"**दृढ़ राखो मोहिं धर्म में बिनवौं बारम्बार।**"[48]

सन्दर्भ सूची-

1. श्लोक 22, *हिन्दूधर्मोपदेशः*, प्रकाशन तिथि माघ कृष्ण अमावस्या, विक्रम संवत् 1990; पुनर्प्रकाशित, सीताराम चतुर्वेदी, *महामना पण्डित मदनमोहन मालवीय*, काशी, वि.सं. 1993, तृतीय खण्ड, पृ. 66
2. श्लोक का मालवीयजी द्वारा अनुवाद, वही, पृ. 68
3. वही, श्लोक 5
4. सनातनधर्म्ममहासभा, प्रयाग, माघकृष्ण संवत् 1984 एकादशीतः प्रतिपद के आमन्त्रण पत्र में लिखित, श्लोक 2, *Mahamana Malaviya Birth Centenary*

Commemoration Volume, 25th December 1961, ed. Nand Lal Sigh, Banaras Hindu University, पृ. 89 से उधृत

5. सीताराम चतुर्वेदी, *महामना पण्डित मदनमोहन मालवीय*, काशी, वि.सं. 1993, तृतीय खण्ड, पृ. 77-79
6. *महानारायणोपनिषद्*, 79.7
7. कहीं अन्येतर उल्लिखित नहीं है
8. *श्रीमद्भागवत पुराण*, स्कन्ध 7 अध्याय 11 श्लोक 8-11
9. *महाभारत*, आश्वमेधिक पर्व, अध्याय 91, श्लोक 33-34 [गीताप्रेस संस्करण]
10. *ब्रह्माण्डपुराण*, 1.30.38; *स्कन्दपुराण*, 2.6.31; *वायुपुराण*, 1.57.116 एवं *लक्ष्मीनारायणसंहिता*, 1.52.92
11. *मनुस्मृति*, 2.6
12. *याज्ञवल्क्य स्मृति*, आचाराध्याय, 1.3; *गरुडपुराण*, आचारकाण्ड, 83.4
13. *ऋग्वेद*, 10.8.129
14. *ऋग्वेद*, 10.81.1.
15. *मनुस्मृति*, 1.5-7
16. *ऋग्वेद*, 10.121.1
17. *ऋग्वेद*, 10.81.1
18. *ऋग्वेद*, 10.81.3
19. *ऋग्वेद*, 10.81.3
20. *ऐतरेयब्राह्मण*, 1.1.1
21. *छान्दोग्य उपनिषद्*, 6.2.1 एवं 2
22. *महाभारत*, शान्तिपर्व, 361.9
23. *भागवत पुराण*, 10 (पूर्वार्ध).14.23
24. *शिवपुराण*, 7 (पूर्वभाग), 6.14
25. *रामचरितमानस*, बालकाण्ड, दोहा 22 के बाद चौपाई 6
26. *रामचरितमानस*, बालकाण्ड, दोहा 117 के बाद चौपाई 4-8
27. सनातनधर्म्ममहासभा, प्रयाग, माघकृष्ण संवत् 1984 एकादशीतः प्रतिपद के आमन्त्रण पत्र में लिखित, श्लोक 2, *Mahamana Malaviya Birth Centenary Commemoration Volume*, 25th December 1961, ed. Nand Lal Sigh, Banaras Hindu University, पृ. 89 से उधृत
28. *अभ्युदय*, १ मई, १९०२८ ई., पद्मकान्त मालवीय सम्पादित *मालवीय जी के लेख*, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1962, पृ. 174-175
29. *गीता*, 41.3
30. श्लोक 5 एवं 11, *हिन्दूधर्मोपदेशः*, प्रकाशन तिथि माघ कृष्ण अमावस्या, विक्रम संवत् 1990; पुनर्प्रकाशित, सीताराम चतुर्वेदी, *महामना पण्डित मदनमोहन मालवीय*, काशी, वि.सं. 1993, तृतीय खण्ड, पृ. 66
31. वही, श्लोक 20
32. *अभ्युदय*, आश्विन-शुक्ल 4, वि.सं. 1964, पद्मकान्त मालवीय, *मालवीयजी के लेख*, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९६२, पृ. ११५-११७
33. सीताराम चतुर्वेदी, *महामना पण्डित मदनमोहन मालवीय*, काशी, वि.सं. 1993, प्रथम खण्ड, पृ. 17

34. *कल्याण*, गीताप्रेस गोरखपुर, अगस्त 1939, वर्ष 14, संख्या 1, पूर्णांक 157, पृ. 56
35. सीताराम चतुर्वेदी, *महामना पण्डित मदनमोहन मालवीय*, काशी, वि.सं. 1993, द्वितीय खण्ड, पृ. 130 एवं 131
36. *महाभारत*, अनुशासनपर्व, अध्याय 15 श्लोक 2 [गीताप्रेस संस्करण]
37. सीताराम चतुर्वेदी, *महामना पण्डित मदनमोहन मालवीय*, काशी, वि.सं. 1993, द्वितीय खण्ड, पृ. 68, प्रार्थना पद 2
38. वही, दोहा संख्या 2
39. *महाभारत*, उद्योगपर्व, 40.12
40. थोड़े पाठभेद से अरण्यपर्व, 120.124 में
41. *विदुरनीति*, 8.11
42. सीताराम चतुर्वेदी, *महामना पण्डित मदनमोहन मालवीय*, काशी, वि.सं. 1993, द्वितीय खण्ड, पृ. 69
43. वही, पृ. 69
44. वही, पृ. 69
45. *अभ्युदय*, 3 अक्टूबर, 1908, पद्मकान्त मालवीय सम्पादित *मालवीय जी के लेख*, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1962, पृ. 180-183
46. *मनुस्मृति*, 5.15; *महाभारत*, 3.3.7; 13.214.54; *पद्मपुराण*, 7.5.26; *वराहपुराण*, 193.49; *लक्ष्मीनारायणसंहिता*, 1.451.2
47. सीताराम चतुर्वेदी, *महामना पण्डित मदनमोहन मालवीय*, काशी, वि.सं. 1993, द्वितीय खण्ड, पृ. 68, पद 4
48. मालवीयजी विरचित, माघ कृष्ण 11 वि. संवत् 1986 का प्रयाग में दिये गये भाषण का अंश ('मन्त्र-महिमा' शीर्षक लेख, सीताराम चतुर्वेदी, *महामना पण्डित मदनमोहन मालवीय*, काशी, वि.सं. 1993, तृतीय खण्ड, पृ. 65, पद सख्या 1

पूर्व विभागाध्यक्ष,
कला इतिहास एवं पर्यटन प्रबंध,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

3

The Features of Ancient India's Linguistics

Prof. Dr. Zilola Khudaybergenova

Introduction

Linguistics originated in the era of myth-making and developed for a long time within the framework of philosophy. In the history of this science, separate periods are distinguished, which are based on various factors: the level of civilization, the practical needs of society, the logic of the development of science itself, the dominance of certain philosophical ideas, the influence of national linguistic traditions. The formation of the world and man was associated with the Word. In myths and religious views, it was shown that the origin of language is based on the spiritual principle - God the Logos, the Word, etc. The Word appears before a person, controls matter in chaos, orders it, finally creating a person. This is stated in the stories about the creation of the world of many peoples, distant in time and space. The Bible also says about this: "In the beginning was the Word, and the Word was with God, and the Word was God. Everything began to be through him. " Those. The word is recognized as an independent spiritual entity, or attribute of God, which is creative or destructive. The word creates peace, but it can also be a formidable weapon. However, one should distinguish between mythological and scientific truths. If the former are imaginative and emotional, do not require proof, do not try to overcome contradictions, then the latter are based on the establishment of real cause-and-effect relationships between phenomena.

Main part

The idea of the omnipotence of the Word became the impetus for the formation of linguistics in ancient India. It is considered the cradle of linguistics. The ancient Indian tradition dates back 3 thousand years. This is due to practical reasons: the desire to normalize Sanskrit (the language of ancient India, which was considered the language of God himself, and therefore sacred, in practice disintegrated at that time into colloquial versions - prakrits) and the need to accurately reproduce the sacred hymns - the Vedas (Veda - "I know"). Panin (5-4 centuries BC) "The Eight Books" in 4 thousand short poetic rules. This work contains exhaustive descriptions of Sanskrit: the sounds and letters that convey them are carefully described; great attention is paid to the combinations of sounds, the rules of their pronunciation at the junction of syllables; a detailed description of inflectional and derivational elements is given; describes the rules for combining morphemes; the basic syntactic constructions are described.

The oldest is the Indian linguistic tradition. Arose 2.5 thousand years BC. NS. It flourished in the 4th-5th centuries[1].

[1] Yelizarenkova T.Ya., Kibrik A.A., Kulikov L.İ. Yaziki mira: İndoariyskie yaziki drevnego

The doctrine of this tradition contains about 4 thousand rules. As the inscriptions of Ashoka show, in India in the III century. BC NS. a very developed and perfect writing system already existed. One of the fonts of these inscriptions - brahmi - formed the basis of the Devanagari script, which, due to its simplicity and convenience, became widespread in antiquity and has survived among many peoples of India to the present day. The practical needs of the priesthood, which sought to preserve the sacred books of Brahmanism in a multilingual country, unchanged, gave impetus to the development of linguistics. The sacred books of the ancient Indians - the Vedas - were written in one of the tribal languages of East Punjab, related to many languages of North India[2]. The Vedas were subsequently canonized. In the meantime, the spoken languages developed, and although the language of the Vedas did not change, because the texts were learned by heart in their original form, the language of later commentaries and epics, under the influence of spoken dialects, began to move away from it. To avoid a gap between them, the learned brahmana Panini, who may have lived in the 5th-4th centuries. BC e., carried out the processing of the language of late Vedic literature. This language, which was apparently based on the dialect of the area of present-day Delhi, which prevailed in late Vedic literature, was called Sanskrit, that is, "purified" (meaning purification from later elements of various spoken languages that penetrated it). The work done by Panini turned out to be so perfect in its scientific level that further deviations from the norms of grammar compiled by Panini were considered as a sign of blatant ignorance.

In the pre-Buddhist period, Brahmanism spread in the newly emerging slave states, which adopted the ideological system already formed in earlier states. This led to the spread of Sanskrit throughout India. Since training and education in ancient India was mainly theological, knowledge of Sanskrit became an indispensable sign of education.

Meanwhile, the colloquial dialects, previously close to Sanskrit, had gone far from it in their development, and it became less and less understandable to the people. This is all the more true for the tribes whose languages were significantly different from the language of the Vedic Indians. The folding of the languages of nationalities took place during the formation of tribal confederations and states that were breaking tribal barriers.

At the time of Panini, a number of such languages (Prakrites) were known - Shauraseni (probably developed directly from the dialect that was the basis of Sanskrit), Matsya, Maharashtri, Magadhi, etc[3].

In the conditions of significant political, economic, ethnic and cultural fragmentation of ancient India, Sanskrit played an important role as a means of communication between the most diverse tribes and nationalities. Every scientist and

---

i srednego periodov.- M., Rossiyskaya Akademiya Nauk. İnstitut Yazikoznaniya, 2004.

[2] Gamkrelidze T.V., İvanov V.V.. İndoyevropeyskiy yazik i indoyevropeysi. Tbilisi, 1984, t. İ-İİ. S.29-31.

[3] Edelman D.İ. Dardskie yaziki - Yaziki mira: Dardskie i nuristanskie yaziki. M., 1910. C.91.

writer was forced to write in Sanskrit, more or less known to educated people throughout India, otherwise his works would have remained the property of a narrow circle of his fellow countrymen. Thus, what is usually called Sanskrit literature is actually the sum of the literatures of the various peoples of ancient India[4]. The lack of study of Sanskrit literature from this point of view, with the enormous complexity of the object of study (the usual lack of data on the author, time and place of writing of this or that work), does not yet make it possible to determine the contribution that individual ancient Indian peoples made to the cultural treasury of ancient India.

The existence of Sanskrit, as the most important literary language of ancient (and partly medieval) India, contributed to the penetration of elements of this language, especially vocabulary, into all Prakrites. The process of enriching the vocabulary of the emerging national languages at the expense of Sanskrit has been taking place until very recently. At the same time, it should be noted that the dominance of Sanskrit as a literary language, teaching in this dead language put an obstacle to the spread of education among the broad masses, made it easier for the priesthood to retain its privileged position in the field of culture.

Buddhist preachers and religious teachers have sought to break the monopoly of Sanskrit in mental life. Unlike the brahmana priests, they wrote their books in Pali, close to the spoken languages of Eastern India (probably based on Prakrit Magadhi). But since Buddhist literature was also canonized over time, Pali suffered the fate of Sanskrit: it became a dead language, the language of Buddhist literature, Buddhist monasticism. He plays such a role at the present time in the countries of Southeast Asia, where Buddhism is widespread (Ceylon, Burma, Thailand).

In connection with the role that Sanskrit and Prakrit played in the ideological life of the country, linguistics in ancient India reached a high stage of development. The works of ancient Indian grammarians - Panini (V - IV centuries BC), Patanjali (II century BC), Vararuchi (II - III centuries AD) amaze modern scholars with the depth of thought and the perfection of research methods. The study of the works of ancient Indian linguists greatly contributed to the development of comparative linguistics in Europe in the 19th century.

At the beginning of the 2nd millennium BC. Indo-European tribes of the Aryans, or Aryans (Indo-Iranians), invade Iran and India from the Northwest. As a result of the divergence, the Indo-Iranian languages split into two branches - Iranian and Indo-Aryan[5]. The speakers of the languages of the first branch also settle in the territories of modern Afghanistan and Tajikistan. The self-name of the Indo-Iranian tribes, who lived earlier in the northern Black Sea region, and then in Asia Minor, is arya (in the original meaning `` noble, loyal, friendly; representative of one of the three higher castes "). By the way, this word formed the basis for two proper names - Iran (aryanam `` country of the Aryans /

[4] Trubachev O.N. İndoarica v Severnom Prichernomore. M., 1999. C. 72.

[5] Kuzmina Ye.E. Otkuda prishli indoarii. M., 1994. C. 32.

noble "), which has survived to this day and meant the territory of settlement of the first group of Aryan tribes, and Aryavarta (Arya varta `` way, country of the Aryans / noble "), meaning in Vedic mythology and in real life, the original territory of settlement of another group of Aryans in India.

We know about the Indo-Aryans as the carriers of the Vedic culture (mid-1st millennium BC - mid-1st millennium AD), captured in orally transmitted religious texts - the Vedas (Rig Veda, Samaveda, Yajurveda , Atharvaveda)[6]. The desire to preserve the purity of the language of the religious ritual, which received the name Vedic, was precisely the basis for awakening a special interest in the problems of language in the 1st millennium BC. first of all, among the representatives of the highest caste - the priests-Brahmins, who performed complex cult rites in an already obsolete and not always understandable language even in their own circle, which was considered the language of the gods and to which magical power was attributed. The Vedic language, which served the Indian branch of the Aryans, by the middle of the 1st millennium BC. is practically out of use. Comprehensive commentary on the ritual texts was needed.

The problematic situation that developed in India under the influence of the needs of a religious cult differed from those that took place in the Middle East and China: here the priority was given to spoken speech, and not to writing; the letter came relatively late. Accordingly, primary attention was paid to the study of the laws of melody, rhythm, metrics, phonetics (and then the Chinese learned from the representatives of Indian culture, joining Buddhism), as well as the elementary etymologization of words.

The ancient Indians made significant progress in the study of speech sounds and their classification based on articulatory features. They were already aware of the non-identity of the concepts of speech sound and phoneme, they had outline of the concept of a syllabic phoneme. Articulatory classifications of sounds, built on a clear logical basis, are reflected in the sequence of graphic signs in the alphabetic-syllable systems of Indian writing (brahmi - from about the 8th century BC, kharoshthi, nagari, devanagari, charade, etc.), which most likely go back not to the still undeciphered Proto-Indian (mainly hieroglyphic), but to the West Semitic syllabic writing.

The achievements of the ancient Indians in the field of lexicography are noticeable. They wrote extensive ritual and mythological treatises - Brahmans (8-7 centuries BC), compiled in Sanskrit, a language qualitatively different from Vedic, which set out general programs of ritual actions of the priests and interpretations of the Vedic poetry. At the same time, they also turned to the Vedic language. Collections of glosses to the words of the Rig Veda that have become obsolete are the first actually linguistic experiments.

In the mainstream of the late Vedic religion (Brahmanism), a special discipline, nirukta, was formed, which deals with the explanation and etymological interpretation of the words

[6] Zograf G.A. Morfologicheskiy stroy novix indoariyskix yazikov. Opit strukturno-tipologicheskogo analiza. M., 1976. C. 84.

used in the priestly ritual. Dictionaries were actively developed that catalog the names of the gods, the names of the actions they perform, the objects at their disposal, the signs of these objects, etc.

"Nirukta" Yaski is the first extensive lexicographical work of this kind that has come down to us, consisting of five parts and including synonymous series and thematic groups of object names, lists of verbs and verbal names, less systematized lists of nouns and adjectives, etc. In his work, Yaska paid special attention to etymology[7]. At the same time, he included in his "Nirukta" grammatical information (grammatical classification of words, information from the field of word formation, the concept of case, the seven-membered paradigm of the name - without vocative).

The development of grammar problems reaches a particularly high level. The pinnacle of grammatical thought and a model for many imitations was the work "Ashtadhyaya" (Eight Books) by Panini (5th or 4th century BC), which sets the task of strict regulation and canonization of Sanskrit, which developed alongside the Vedic language on a different dialectal basis and gradually supplanted it in religious use.

Panini constantly draws attention to the main features of Vedic and the differences from Sanskrit. The description of the language follows a strictly synchronous principle. And today, from the standpoint of "active grammar" (ie, the speaker's grammar) and generative linguistics, Panini's original approach to the description of language is striking: it goes from communicative goal setting and transmitted meaning to the selection of lexical morphemes (roots) and then syntactic constructions. Phonetic information dissolves into the main body of grammar. They are presented from positions similar in spirit to modern morphonology. Special attention is paid to morphological analysis (without differentiation between inflection and word formation).

In Panini's grammar, attention is drawn to the extreme conciseness of presentation (in order to more easily memorize the rules by heart). A sophisticated system of symbolizing linguistic units, rules and operations is used. For the first time in the history of linguistics, the concept of "fictitious" morphemes is postulated.

Syntax is constructed, first of all, as a statement of the totality of information about the functions of a noun in a sentence, etc., scattered in different places of work. The grammar contains a number of applications in the form of lists of words combined by grammatical features. It should be noted the predominantly theoretical orientation of Panini's work, anticipating in its scientific level the achievements of modern formal logic, structural and generative linguistics.

Subsequent grammatical works in ancient and medieval India are mainly comments or revisions of the canonized grammar of Panini (Vyadi, Katyayana, Patanjali, and in the Middle Ages Chandra, Vararuchi, Hechamandra, Jayaditya, Vamana, Bhattoji Dikshit). Panini's principles served as a basis for the description of a number of other Indo-Aryan languages (including Prakrit).

[7] Kuzmina Ye.E. Otkuda prishli indoarii. M., 1994. C. 65.

Along with classical Sanskrit, Buddhist hybrid Sanskrit arises and spreads, which, along with Pali, was one of the main languages of the Buddhist religion, gradually (from the 6th-5th centuries BC to the end of the 1st millennium AD) which pressed the religion of Brahmanism, and then during the 1st millennium AD. dissolved on the territory of India in Hinduism as a renewed Brahmanism.

The ancient Indians also turned to questions of the philosophy of language, initially in mythological legends and religious texts, and then in philosophical and grammatical works. They recognized the language as the supreme deity ("Rig Veda"). In the Vedic pantheon, the gods were distinguished, in whose jurisdiction linguistic activity is: the goddess of Speech Vach, the goddess of the sacred speech of Bharati, the goddess of the true speech of Varuna. In the Hindu pantheon, Speech (Vac) began to be identified with Brahman - the impersonal absolute, the universal spiritual substance[8]. Saraswati was assigned here the function of the goddess of knowledge, wisdom and eloquence. In general, the discussion of the problems of language occupied the representatives of practically all the main systems of Indian religious philosophy: Brahmanism, Jainism, Buddhism, Hinduism.

Especially widespread in India were the linguo-philosophical ideas of the leading representative of the "grammatical school" of philosophy Bhavrtrihari (5-6 centuries AD), set forth in the famous work "Vakyapadiya" (On the word and the sentence). This thinker identified Brahman as the highest reality, which has no beginning or end, with the Word (Word-essence), from which the entire Universe unfolds with its infinite variety of objects and phenomena. The universe is, in his opinion, both that which should be expressed (expressed, signified), and that which should be expressed (expressing, signifying), namely words, speech. Bhavrtrihari believed that knowledge is intertwined with the word already in a newborn, that from this interweaving all human activity is born and science, arts and crafts take their origins.

He distinguished three stages that the Word passes through in its development: "visionary" (here speech is indivisible and eternal), "intermediate" (here the Word is a mental and not perceived by people essence, although it has a temporal sequence, as it were), and "exposed" (where articulated, sounding speech is observed). With an orientation towards the second stage, he formulates the concept of sphota as the central link in the entire "grammatical philosophy". Sphota is for him an indivisible linguistic symbol, a certain state of consciousness communicated to the listener with the help of speech sounds. The utterance is recognized as the main unit from which words are allocated, and not which is composed of words. They are distinguished by the sphota of a sentence, the sphota of a word, and even a sphota of a phoneme (but not a sound).

The ideas that formed the basis of the Indian linguistic tradition spread far beyond India (along with the spread of Buddhism). They were further developed in medieval as well as in modern India.

[8] Trubachev O.N. İndoarica v Severnom Prichernomore. M., 1999. C. 89.

European scholars became acquainted with Sanskrit and the ideas of ancient Indian grammar in the late 18th and early 19th centuries, which had a significant impact on the formation of comparative historical linguistics and its method[9]. The founders of comparative studies believed that the ancient Indian language is the ancestor of all Indo-European languages, that it possesses the highest perfection that was lost in the development of descendant languages. Frequent appeal to the concepts developed by the ancient Indians and especially the analysis procedures is also observed in modern European and American linguistics. At the same time, it often cannot do without erroneous identification of the concepts put forward by ancient Indian science with similar concepts formulated in the European linguistic tradition, without sufficient consideration of differences in ethnocultural, general scientific and linguistic contexts.

It should be noted the ethnocultural specificity of Indian science, which remained indifferent to the history and chronology of the emergence of grammatical treatises and dictionaries, which did not sharply change its guidelines. This explains the difficulty of dividing the history of Indian linguistics into ancient and medieval. The differences lie mainly in the emergence of a developed lexicography at the beginning of the Middle Ages and the formation, alongside the grammatical, of the lexicographic tradition. In the Middle Ages, the same, as in antiquity, can be traced, the motives for the subordination of linguistic studies to the practical needs of the restoration and re-creation of the ritual, now for the religious and yogic purposes of achieving the otherworldly.

Both in antiquity and in the Middle Ages, the language was understood by Indian thinkers as a type of activity (in contrast to European linguists, who saw in the language, first of all, the nomenclature of names). In the medieval period, attention to the word increased, since the teachings of Buddha Gautama / Shakyamuni (6th century BC) replaced the Vedic-Brahmanist ideology, which placed at the forefront the authority of the Vedic-Brahmanist ideology, in the depths of which the works of Panini and his contemporaries were formed. Buddha refused to bow before the authority of the Vedas and replaced them with conversations and sermons of the teacher - sutras, which already have a different structure and cover almost the entire semantic-psychic sphere of human life, which put the meaning of the word in the center of attention.

Representatives of classical grammar continued to interpret the texts of the Vedas, and semantic linguists began to interpret the teachings of the Buddha. Brahmanically minded Panini and his successors showed interest in the way of expression, in the form of the texts, and the representatives of Buddhist ideology - in the content side of the texts. This was due to the difference in the sets of terms. By the end of the 1st millennium AD. Buddhist religion lost its position in India due to the revival of Brahmanism in the face of Hinduism, which again

[9] Zograf G.A. Yaziki Yujnoy Azii. M., 1990. C. 113.

strengthened the position of the Panini tradition.

Both in antiquity and in the Middle Ages, the goals of describing the language, the intended purpose of its specific addressees, were taken into account. Indian scholars have developed procedures for establishing and classifying in the analysis of the language of units of a finite set that are not found in direct experience, refusing to distinguish between their essence and phenomenon. They were inherent in the belief that the superhuman author taught people language as a matrix, i.e. a curtailed form of knowledge, further developed by the efforts of people. Many medieval commentators on Panini's work are known who worked in line with his tradition: Patanjali, Katyayana, Buddhist Chandragomin (5th century), Jain Digambar Jainendra (5th century), Jain Shvetambar Shakatayana (8th century). They tried to make Panini's book even more laconic. Appears connected by their method with the grammar of Panini and at the same time, as if revising her grammatical treatises "Dhatupatha", "Gana-patha", as well as Chandragomin's "Unadisutra", where the author distinguishes between the morpheme and the word, claiming that the latter has a referent ...

On the basis of Panini's model, Prakrit grammars (codified in the literature forms of Middle Indian speech) are created: Vararuchi, Hemachandra (13th century). The object of grammatical description is the Pali language that served southern Buddhism. The authors of works on the Pali language Kacchayana, Sanghanandin, Brahmadatta are guided mainly by Aindra's dopanini grammar school[10].

The first dictionaries appear. The Buddhist Amarasimha (5th century) laid down the principles of Indian lexicography (grouping words according to meaningful features, an ordered list of synonyms, a list of ambiguous words with interpretations, and the verse form of dictionary entries for memorization). He is followed by the Hindu Halayudha, the Jain Hemachandra (11th - 13th centuries). Attention is drawn to the classification of vocabulary in accordance with the classification of world phenomena adopted at that time, the feeling of indivisible one-sided units of content (analogous to the figures of content in L. Yelmslev), and the distinction between primary and secondary meanings of words. At the next stage in the development of Buddhist thought, the concept of mantra appears - an utterance as an atom of purposeful linguistic activity, as a unity of figures of expression (phonemes) and figures of content.

Subsequently, the understanding of meaning as a quantity determined by an extra-linguistic context, situation, and pragmatic factors, which was the last fundamental achievement of medieval Indian linguistic thought, was formed (taking into account the logical use of language), which was in good agreement with the general understanding of language as a mode of activity.

Work on articles on Indo-Aryan languages began in the 1980s. Articles on the ancient and middle periods were

[10] Yelizarenkova T.Ya. İssledovaniya po diaxronicheskoy fonologii indoariyskix yazikov. M., 1974. C. 45.

written by T.Ya. Elizarenkova[11]. Subsequently, their text was revised by the author: additions were made reflecting new materials, problems and interpretations that have arisen in Indo-Aryan linguistics over the past twenty years. Articles on the new Indo-Aryan languages were written by G.A. Zograf, the most prominent specialist in this field[12]. After his death, it was decided to divide the articles on Indo-Aryan languages into two volumes. This decision is also justified by purely scientific reasons: the new Indo-Aryan languages belong to a different type than the Old Indian, - the path of the historical development of this group of languages went from the inflectional structure of the ancient period to the analytical one and then, in some cases, to the agglutinative structure of the new Indo-Aryan languages[13].

For the ancient Indo-Aryan languages, the problem of preserving common Indo-European archaisms in them is of great importance, for living new Indo-Aryan languages - the problem of contacts with the languages of other genetic families and the development of a number of features common to the languages of the area of South Asia.

The name - Indo-Aryan - or - Indian - languages can be used in two senses. First, it can denote the entire given group of languages in its historical development: ancient (Vedic and Sanskrit), middle (Pali, Prakrit, Apabhransha) and new Indo-Aryan languages (Hindi, Marathi, Gujarati, Punjabi, Sindhi, Nepali, Bengali, Assami, Oriya, Sinhalese, etc.). Secondly, sometimes it is incorrectly used only to designate new Indo-Aryan languages, as opposed to other genetic families of languages in India, for example Dravidian. This refers to a broader understanding of the term.

Indo-Aryan languages belong to the Aryan branch of the satem group (see the Sanskrit article in this edition) of the Indo-European family of languages. - Arya - is the self-name of the ancient Indians and Iranians (skr. Arya-, avest. Airiia). In addition to the Indian and Iranian languages (which are quite clearly opposed to each other from the earliest texts), the Dardic languages, attested much later, also belong to this branch. At present, there is no doubt that these languages, which differ from both Indian and Iranian, should be interpreted as an independent group within the Aryan branch. Previously, sometimes the Dardic languages were considered undifferentiated, together with the new Indo-Aryan languages

Attempts to interpret - Mitannian Aryan - as a language of an independent type, different from all other known groups of languages of the Aryan branch, can hardly be considered justified. Its characteristic phonetic features are quite convincingly explained by the imperfect transmission of these words in cuneiform writing.

It is likely that in ancient times the Aryan branch of languages included another group represented by the conventionally called Andronovo Aryan

---

[11] Yelizarenkova T.Ya. İndoariyskie yaziki - Sravnitelno-istoricheskoe izuchenie yazikov raznix semey. Sovremennoe sostoyanie i problemi. M., 1981. C. 96-98.

[12] Zograf G.A. Yaziki Yujnoy Azii. M., 1990. C. 67.

[13] Zograf G.A. Morfologicheskiy stroy novix indoariyskix yazikov. Opit strukturno-tipologicheskogo analiza. M., 1976.

language, which can be judged by a number of borrowings in the Finno-Ugric languages bordering on the territory of the Andronov culture. Itself - Andronovo Aryan - disappeared as early as the 1st millennium BC.

The Indo-Aryan languages are the languages of a great culture that has been developing for about four thousand years. Texts in these languages represent various religions (Vedism, Hinduism, Buddhism, Jainism), a wide variety of literary genres (religious hymns, epics, lyric poetry, narrative and dramatic works), scientific and philosophical treatises, as well as numerous commentaries on them, epigraphic inscriptions and so on. Belonging to this tradition determined the specific situation in which the Indo-Aryan languages developed.

For the dead Indo-Aryan languages, the problem is chronological division into ancient Indian and Central Indian stages, since chronologically they are largely combined and from a certain point coexist for many centuries, being used in different spheres (depending on the genre of the work or on its belonging to a particular religion). Therefore, in many cases, the difference is not so much chronological differences as structural ones.

These differences are most clearly expressed in phonetics: in the middle Indo-Aryan period, there is an assimilation of groups of consonants of the ancient Indo-Aryan and the disappearance of final consonants; there are no syllable sonants r, l and diphthongs ai, au; the quantitative characteristics of vowels are regulated by the law of two mors, etc. All these phonetic changes, in turn, caused changes in the field of morphology and syntax: the unification of declension and conjugation types due to the elimination of consonant stems, the development of semi-analytical constructions, etc.

The problem is further complicated by the fact that it is very difficult to decide on the material of dead languages the ratio of language and dialect. The first texts in Indo-Aryan languages that have come down to us are Vedic poetry collections and ritual explanations to them. The cult poetic speech addressed to the gods, by its purpose and style, could not have much in common with the spoken language of that time, about which there is practically no reason to judge. However, even in the earliest Vedic collection of the Rig Veda (Veda of hymns), there are separate Prakritisms, which caused a lively discussion of scholars. Finally, in Prakrit, originally based on local spoken dialects, there are isoglosses that unite them with Vedic, but not with the later and normalized Sanskrit.

Regarding Sanskrit, which has a different dialectal base than Vedic, the question has not been finally resolved whether it was a refined, artificial language (samskrta - composed, preserved / prakrta - natural, natural) of the upper strata of society, their science and culture, or it was a fairly common spoken language of a certain area.

In the ancient Indian tradition, the language was firmly assigned to a certain class of texts or literary genre. So, in the scientific and commentary literature, the nominal system predominates noticeably, the richness of personal verb forms is not sufficiently used, nouns with abstract suffixes are widely used; starting from the sutra period (approximately 600-400 BC),

long compound words are increasingly used instead of the two-term ones more characteristic of the previous Brahman period; in classical drama the passive system clearly predominates, and so on. As a result, we can say that according to its morphological and syntactic characteristics, the language of different classes of Sanskrit texts belongs to different linguistic types. That is why the opinion is quite justified that linguistic evolution in ancient India is determined more by the genre of texts than by time and place.

For almost four thousand years of development, the Indo-Aryan languages, naturally, changed their structure, so that their brief description should be given in diachronic terms, indicating the main directions of changes in the system. The most stable were some phonetic features of these languages, which already existed in Vedic and are represented (sometimes in a somewhat transformed form) in most of the new Indo-Aryan languages. First of all, it is the presence of classes of fur coat cerebral and aspirated phonemes, characteristic of consonantism. Cerebral phonemes, which are absent in common Indo-European, have been attested since the first monument of the ancient Indian language Rigveda, but here considerable restrictions are imposed on their distribution (Elizarenkova 1974, 69-80). The further expansion of the distributive capabilities of these phonemes in Indo-Aryan languages is apparently associated with the Dravidian influence - the presence of bilingualism in the assimilation of Sanskrit by the speakers of these languages.

The presence of a class of noisy aspirated phonemes in ancient Indian is the preservation of the common Indo-European heritage. This class of phonemes is also represented in many new Indo-Aryan languages, but in general, throughout the history of development, it has undergone considerable changes[14]. Voiced aspirates underwent the greatest changes, moving in some new Indo-Aryan languages to a combination of a consonant with a glottal stop, in others giving a musical tone to a neighboring vowel.

In addition, in the New Indian period, this opposition expanded its scope, becoming relevant in many languages not only for noisy consonants, but also for sonants (m / mh, n / nh, _n / _nh, l / lh, r / rh, v / vh). Which, however, are much less common than noisy aspirated ones.

The class of noisy spirants in Indo-Aryan languages has always been poorly represented: with one or three phonemes, which is one of the differences in comparison with the Iranian languages.

A tendency to nasalization of vowels in the vicinity of new consonants in certain phonetic conditions is characteristic, which in different periods was interpreted first as a positional variant of a consonant nasal phoneme, then as a positional variant of a nasal vowel phoneme and, finally, as a special nasal vowel phoneme [15].

The morphological structure of the ancient Indian languages (Vedic, Sanskrit)

---

[14] Yelizarenkova T.Ya., Kibrik A.A., Kulikov L.İ. Yaziki mira: İndoariyskie yaziki drevnego i srednego periodov. - M., Rossiyskaya Akademiya Nauk. İnstitut Yazikoznaniya, 2004. S.166-183.

[15] Yelizarenkova T.Ya. İssledovaniya po diaxronicheskoy fonologii indoariyskix yazikov. M., 1974. s.184- 201.

is characterized by a branched system of inflection of a name and a verb. All form and word formation is governed by the rules of morphological alternations of vowels in the root and in the suffix. Morphonology always occupies the highest level in the hierarchy. The Vedic language is richer in inflection, but grammatically less normalized - it has more deviations. Sanskrit follows the prescriptions of Panini's grammar, but in a number of genres, as already mentioned, the nominal system predominates, and thus personal verb forms are unclaimed.

The phonetic changes of the Middle Indian period dealt a crushing blow to the verb and nominal inflection, which turned out to be strongly reduced (final consonants were not allowed). Monophthongization of diphthongs and the law of two mors, regulating the structure of a syllable, violated the system of morphonological alternations. The assimilation of consonant groups made the morphological structure of the stem opaque. In late Middle Indian - apabhransha - these phenomena continued to grow, the distinctive power of inflection decreased even more, which necessitated the use of semi-auxiliary and auxiliary words, as well as stable syntactic combinations that convey, for example, the opposition of the voice, type, mode of action, etc. in the verb. They became regular analytical constructs during the New Indian period.

The system of verb tenses in the Middle Indian period is greatly reduced, and the past participle is firmly included in the verb paradigm. And this, in turn, radically changes the nature of the syntax. If Old Indian was a language of the type (S) OV, where V is the personal form of the verb, which corresponded to the face of the subject of the action, then in Middle Indian in the past tense, a passive construction becomes widespread: the name of the agent is in the instrumental or genitive case, the name of the direct object is in the nominative case, and the predicate-participle agrees with it (I saw a girl - it is expressed as - I (I) saw a girl). In the Neo-Indian period, in a number of languages, this led to the emergence of an ergative or ergative-like design. Other languages (primarily of the eastern area) have developed a new agglutinative type of personal verb inflection.

Conclusion

Indo-Aryan languages began to spread on the Hindustan Peninsula with the arrival of the Vedic Aryan tribes in Northwestern India approximately in the middle of the 2nd millennium BC. According to the latest research, there is a genetic link between the Indo-Iranians and the Andronov culture of the Central Eurasian zone. It is assumed that the Indo-Aryans separated from the Iranians already in the Northern Black Sea region. The Indo-Aryans were the first to go to the south, leaving numerous lexical traces on their way; the later was the Iranian expansion.

The Vedic tribes advanced deep into the Indian subcontinent in a general direction from north-west to south-east, defeating the aborigines (speakers of the Austro-Asian and Dravidian languages) due to their military advantage - the aborigines did not know war chariots drawn by horses - mixing with the autochthonous population and assimilating a new economic and cultural complex. At present, the northern and central parts of

the Indian subcontinent are occupied mainly by Indo-Aryan languages, while the southern ones are occupied by Dravidian. In the northwest, the Indo-Aryan languages border on the Iranian and Dardic languages, in the northeast and east - on the Sino-Tibetan languages, in the east - on the Austro-Asian languages, which have also survived in other places in the form of separate inclusions in the bulk of the Indo-Aryan languages. Outside the main distribution area are the languages of migrants from India: modern Sinhalese on about. Sri Lanka and its closely related Maldivian language in the Maldives, various dialects of the Gypsy language in different parts of the world, the Parya language in Tajikistan. Of the ancient languages, this group includes - Mitannian Aryan - in Asia Minor (XIV century BC), represented by separate proper names of gods and kings, as well as horse breeding terms in texts in Mitannian language. Words - Mitannian Aryan - are characterized by special phonetic features. Considering that the Indo-Aryan also includes ancient languages, it is impossible to indicate even an approximate number of languages.

References

1. Gamkrelidze T.V., İvanov V.V.. İndoyevropeyskiy yazik i indoyevropeysi. Tbilisi, 1984, t. İ-İİ.
2. Yelizarenkova T.Ya. İndoariyskie yaziki - Sravnitelno-istoricheskoe izuchenie yazikov raznix semey. Sovremennoe sostoyanie i problemi. M., 1981.
3. Yelizarenkova T.Ya. İssledovaniya po diaxronicheskoy fonologii indoariyskix yazikov. M., 1974.
4. Yelizarenkova T.Ya., Kibrik A.A., Kulikov L.İ. Yaziki mira: İndoariyskie yaziki drevnego i srednego periodov. - M., Rossiyskaya Akademiya Nauk. İnstitut Yazikoznaniya, 2004.
5. Zograf G.A. Morfologicheskiy stroy novix indoariyskix yazikov. Opit strukturno-tipologicheskogo analiza. M., 1976.
6. Zograf G.A. Yaziki Yujnoy Azii. M., 1990.
7. Kuzmina Ye.E. Otkuda prishli indoarii. M., 1994.
8. Trubachev O.N. İndoarica v Severnom Prichernomore. M., 1999.
9. Xelimskiy Ye.A. Yujnie sosedi finno-ugrov: iransi ili ischeznuvshaya vetv Ariev (arii-andronovsi)? - K 70-letiyu V.N. Toporova, M., 1998.
10. Edelman D.İ. Dardskie yaziki - Yaziki mira: Dardskie i nuristanskie yaziki. M., 1910.

University of Bartın
Republic of Turkey

4 नवजागरणकालीन आलोचना और आचार्य रामचंद्र शुक्ल

डॉ.करुणाशंकर उपाध्याय

आज जिसे हम भारतीय नवजागरण के नाम से जानते हैं वह 1857 के राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन की स्वाभाविक परिणति है। महारानी विक्टोरिया का जो घोषणा पत्र 1860 में आया उससे भारतीय समाज की जीवन दशा में बड़े बदलाव उपस्थित होता है। नयी शिक्षा के प्रचार-प्रसार के कारण अनेक समाज-सुधारक भारतीय समाज की जड़ता पर करारा प्रहार करते हैं और उसकी फलश्रुति जिस नवजागरण में होती है वह अंग्रेजी साम्राज्यवाद एवं भारतीय रूढ़िवाद दोनो का विरोध करता है। मेरा मानना है कि जिस समाज के पास जितना बड़ा और लंबा अतीत होगा उसके पास गौरव और आत्मनिरीक्षण के लिए उतना ज्यादा अवकाश और विकल्प होगा। इस कारण भारतेंदु हरिश्चंद्र जैसे जनदर्दी रचनाकार को भी अतीत की ओर झांकना पड़ा। भारत जैसे प्राचीनतम एवं समृद्ध ज्ञान परंपरा वाले देश में अतीत के प्रति सम्मोहन एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। हमें यह भी स्मरण रखना होगा कि नवजागरण के दौरान अंग्रेजी सत्ता द्वारा लगाई गई सेंसरशिप भी बहुत कठोर थी। हमारे रचनाकारों एवं आलोचकों ने अपने प्रातिभ - कौशल के बल पर उसका बाकायदा अतिक्रमण किया। इस कार्य में भारतीय इतिहास और अतीत के गौरवशाली पृष्ठों ने भी भरपूर सहयोग दिया।

हिंदी गद्य की अन्य विधाओं की भांति आलोचना का भी स्वाभाविक स्फुरण एवं विकास नवजागरण काल की देन है। इसकी विधिवत शुरुआत भारतेंदु हरिश्चंद्र एवं प्रेमघन के आलोचनात्मक निबंधों द्वारा होती है। यह भी सत्य है कि हिंदी में आलोचना शब्द के प्रथम प्रयोक्ता बालकृष्ण भट्ट हैं , जिनसे व्यावहारिक आलोचना प्रस्तावित होती है। वे प्रेमघन के साथ वैचारिक संवाद एवं टकराव द्वारा इसका शुभारंभ करते हैं। इसी समय भारतेन्दु की भाषा नीति अंग्रेजों के विरोध में जाती है। वे 'भारतवर्षोन्नति कैसे हो सकती है' जैसे कालजयी निबंध द्वारा भी अपने व्यापक और व्यावहारिक दृष्टिकोण का निर्वचन करते हैं। वे अपने काव्यचिंतन में नवीन भावनाओं एवं विषयों का समावेश करते हैं। भारतेन्दु और उनके सहयोगियों ने जीवन तथा समाज से सम्बद्ध सारे विषयों को कविता के अंतर्गत सम्मिलित करने पर जोर दिया। इस कारण इनकी आलोचना में भी नवीन चेतना का अंकुर प्रस्फुटित हुआ।

हिंदी आलोचना की जो धारा भारतेन्दु युगीन नव वैचारिक क्रांति की गंगोत्री से नि:सृत हुई थी वह द्विवेदी युग के समतल मैदान में आकर अपना पाट विस्तृत करती है। वह संस्कृत काव्यशास्त्र की स्थायी निधि को आत्मसात करके स्वयं को सबल बनाती है। इस कार्य को मूर्त रूप देने के लिए स्वयं इतिहास विधाता ने आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का चयन किया। वे आलोचना के क्षेत्र में अनुशासन और व्यवस्था कायम करने के साथ-साथ खड़ी बोली हिंदी का परिष्कार करके उसे निबंध एवं आलोचनात्मक लेखन के अनुरूप बनाते हैं। आप 'रसज्ञ रंजन', 'संचयन', 'विचार-विमर्श', द्विवेदी काव्य-

माला' और 'समालोचना समुच्चय' नामक कृतियों के माध्यम से हिंदी आलोचना को निश्चित आयाम एवं आकार प्रदान करते हैं। इस दृष्टि से इनके 'सरस्वती' के संपादकीय तथा अनेक लेख भी ऐतिहासिक महत्त्व के हैं। इनके अनुसार 'अंतःकरण की वृत्तियों के चित्र का नाम कविता है।' इन्होंने 'कवि और कविता' शीर्षक निबंध में सादगी, असलियत तथा नीति को कविता के तीन गुण बतलाए। आप एक प्रखर समाज-सुधारक के रूप में अपने साहित्यिक व्यक्तित्व को प्रतिष्ठित करते हैं। द्विवेदीजी एक सच्चे समाजचिंतक की भांति नारी शिक्षा और विधवा विवाह का समर्थन करते हैं । साथ ही, दहेज प्रथा जैसी सामाजिक बुराई पर प्रखर काव्यात्मक आक्रमण करते हैं। आप समाज के साथ-साथ साहित्यक रूढ़ियों को भी अपने आक्रमण का लक्ष्य बनाते हैं। एक कठोर एवं नियामक आचार्य के रूप में आप हिंदी आलोचना को समाजोन्मुखी बनाते हैं। आपने साहित्यकारों एवं आलोचकों के लिए आचार संहिता बनाने का कार्य किया और समय, समाज एवं राष्ट्र के प्रति उनके दायित्व बोध का निर्धारण किया। नीतिवादी दृष्टिकोण के कारण रीतिकाल के भग्नावशेषों पर इनकी कलम वज्र बनकर गिरी। इन्होंने 'कवि कर्तव्य' शीर्षक लेख में यह प्रतिपादित किया है कि "कविता लिखते समय कवि के सामने एक ऊंचा उद्देश्य अवश्य होना चाहिए। केवल कविता ही के लिए कविता करना एक तमाशा है।' इस तरह द्विवेदीजी न केवल स्वयं कवि-कर्म के प्रति सचेत हैं अपितु अपने समय के रचनाकारों को उनके दायित्व बोध से अवगत भी कराते हैं।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी इस अर्थ में भी विशिष्ट आलोचक हैं कि वे हिंदी आलोचना को अंतःअनुशासनिक आयाम प्रदान करते हैं। आप महामनीषी चाणक्य के बाद ऐसे विचारक हैं जो अर्थशास्त्र पर एक महत्वपूर्ण पुस्तक लिखते हैं । आपने 'सम्पत्तिशास्त्र' नामक ग्रंथ की रचना करके हिंदी जगत के समक्ष यह आदर्श प्रस्तुत किया है कि आलोचक को हरेक विषय का ज्ञान होना चाहिए। इस पुस्तक का उद्देश्य केवल अर्थशास्त्र के सार्वभौम सिद्धांतों का वर्णन करना ही नहीं है अपितु भारतीय अर्थव्यवस्था की गहरी जांच-पड़ताल करने के लिए उन सिद्धांतों का अनुप्रयोग करना भी है। साथ ही, हिंदी जनता को देश की आर्थिक परिस्थितियों की यथार्थ दशा का संज्ञान कराना है जो तत्कालीन राजनीतिक और सामाजिक दशा के मूल में है। आचार्य द्विवेदी ने अपने गहन अर्थशास्त्रीय ज्ञान का परिचय देते हुए यह स्थापित किया है कि "योरप और अमेरिका के प्रायः सभी देश स्वतंत्र हैं । इससे राज्यव्यवस्था और व्यापार की बातों पर विचार करने में, उन्हें अपने देश के सम्पत्ति की रक्षा और वृद्धि के उपाय सोचते रहने का मौका मिलता है। इसी से उन देशों में सम्पत्तिशास्त्र पर सैकड़ों ग्रंथ बन गए हैं और बनते जाते हैं। क्योंकि बिना सम्पत्ति की रक्षा और वृद्धि के न राज्य ही का प्रबंध अच्छी तरह हो सकता है और न व्यापार ही की उन्नति हो सकती है।" इस तरह द्विवेदीजी देश और समाज के सर्वतोन्मुखी विकास के लिए स्वतंत्रता को अनिवार्य मानते हैं। ऐसा करके वे हिंदी आलोचना के पारिभाषिक दायरे को ही नहीं बढ़ाते अपितु उसे जीवन सापेक्ष भी बनाते हैं। संक्षेप में, द्विवेदी जी नवजागरणकालीन प्रवृत्तियों के प्रतिनिधि के रूप में अपना कार्य सम्पन्न करते हैं।

इसी क्रम में मिश्रबंधुओं (गणेशविहारी, श्यामविहारी और शुकदेवविहारी) ने लगभग 5000 हिंदी कवियों एवं उनके काव्य को खोजकर उसका विवेचन किया । इन्होंने आलोचना को सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक परिवेश से जोड़ा। ये तीनों

कारयित्री प्रतिभा के भी धनी थे जिसका प्रमाण इनके द्वारा लिखित ऐतिहासिक उपन्यासों में मिलता है। मिश्रबंधुओं ने ईशानवर्मन, पुष्यमित्र, चंद्रगुप्त मौर्य, चंद्रगुप्त विक्रमादित्य और उदयन जैसे ऐतिहासिक उपन्यासों के प्रणयन द्वारा अपने लेखकीय व्यक्तित्व को विस्तार दिया है। इनके माध्यम से भी नवजागरण की प्रतिध्वनि सुनी जा सकती है। इनके और लाला भगवानदीन के बीच बिहारी और देव की वरीयता को लेकर जो वैचारिक संघर्ष हुआ उससे हिंदी आलोचना में वाद-विवाद की नूतन परंपरा का श्रीगणेश हुआ। लेकिन इनकी पुस्तक 'मिश्रबंधु विनोद' और हिंदी नवरत्न' से आलोचना को बहुत लाभ इसलिए नहीं मिल सका, क्योंकि इन्होंने भावपक्ष एवं कलापक्ष को परस्पर असम्बद्ध रखा। इसी समय बाबू श्याम सुन्दरदास ने काशी नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना द्वारा हिंदी क्षेत्र के सांस्कृतिक-साहित्यिक नवजागरण को गति प्रदान की। इन्होंने हिंदी शब्दसागर का संपादन, हस्तलिखित ग्रंथों की खोज तथा साहित्यालोचन, भाषा विज्ञान, हिंदी भाषा का विकास जैसी पुस्तकें लिखकर हिंदी भाषा एवं साहित्य की उल्लेखनीय सेवा की है। इनके द्वारा लिखित 'भारतीय साहित्य की विशेषताएं, 'समाज और साहित्य',' कर्तव्य और सत्यता, 'तुलसीदास', सूरदास तथा हमारी भाषा जैसे निबंध नवजागरण की चेतना को उद्भासित करते हैं।

हिंदी आलोचना के इतिहास में आचार्य रामचंद्र शुक्ल का आगमन एक युगांतरकारी घटना है। आप नवजागरणकालीन आलोचना के शिखर पुरुष माने जाते हैं। इतना बड़ा आलोचक हिंदी ही नहीं संपूर्ण भारतीय भाषाओं में दूसरा नहीं हुआ है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल हिंदी और भारतीय भाषाओं के ही सर्वश्रेष्ठ आलोचक नहीं हैं अपितु वे विश्व के तीन श्रेष्ठतम आलोचकों में से एक हैं। मेरा मानना है कि अरस्तू, मैथ्यू आर्नल्ड और आचार्य रामचंद्र शुक्ल विश्व के तीन सबसे बड़े आलोचक हैं जिन्होंने काव्यालोचन के क्षेत्र में युगांतरकारी प्रस्थान उपस्थित किया है। एक ऐसा प्रस्थान प्रवर्तक व्यक्तित्व, जो अतीत से लेकर वर्तमान तक को नूतन बना दे और भविष्य के लिए विवेकपूर्ण संकेत कर जाए, वही आचार्य कहलाने का अधिकारी है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ऐसे ही आचार्य हैं। वे अपनी प्रखर मेधा निरपेक्ष तथा जनतांत्रिक विश्वदृष्टि द्वारा हिंदी आलोचना को ठोस आधार और आकर्षक व्यक्तित्व प्रदान करते हैं। आपने 'ग्रहण' और 'त्याग' के विवेक का परिचय देते हुए पश्चिम से वांछनीय तत्वों का वरण किया । इन्होंने अपने स्वाधीन व्यक्तित्व तथा लोकतांत्रिक अधिकारों की रक्षा करते हुए पाश्चात्य सिद्धांतों तथा विचारकों से आक्रांत न होने का साहस दिखलाया। आप भारतवर्ष की जीवंत व गतिशील लोकोन्मुख परंपरा को लोक से सम्बद्ध करके उसे पुरस्कृत करते हैं। राजनीतिशास्त्र में जो महत्व लोकतंत्र का है, लगभग उसी वजन तथा महत्व का शब्द लोकधर्म को हिंदी आलोचना के चरम प्रतिमान के रूप में प्रतिष्ठित किया। आचार्य शुक्ल की लोकचिंता, अंतर्दृष्टि और विश्वसंदृष्टि उन्हें विराट और व्यापक दृष्टिकोण से समन्वित आलोचक के तौर पर हमारे सामने लाती है। फलतः शुक्लजी के प्रिय कवि भले ही महाकवि गोस्वामी तुलसीदास रहे हों परंतु उन्होंने अपनी व्यावहारिक आलोचना का सर्वोत्तम जायसी को दिया है। इसी तरह उन्होंने हिंदी साहित्य के सभी कालखंडों, रचनाकारों तथा साहित्य की प्रायः सभी विधाओं पर साधिकार लिखा है। वह उनकी व्यावहारिक आलोचना को बहुआयामी एवं आश्चर्यजनक अर्थव्याप्ति प्रदान करता है। इनके

द्वारा रचित 'रस-मीमांसा' हिंदी की सैद्धांतिक आलोचना का सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ है। शुक्लजी ने जिस सूझ-बूझ, मेधा, तार्किकता और विवेचन-क्षमता द्वारा क्रोचे के अभिव्यंजनावाद की मर्यादाएं बतायीं, उसके दुर्बल और अनुपयोगी पक्षों को उद्घाटित किया और पाश्चात्य सिद्धांतों तथा विचारधाराओं की गहन जानकारी होने के बावजूद हिंदी आलोचना को उसके दुष्प्रभावों से बचाया, वह उनकी आलोचना को विश्वस्तरीय विमर्श प्रदान कलता है। साथ ही, उन्होंने जिस तैयारी, साहस तथा विश्लेषण क्षमता द्वारा सामंतवाद का विरोध किया, जिन शब्दों में दरबारी संस्कृति का मुखौटा उतारा, जिस नैतिक एवं सामाजिक सरोकार से रहस्यवाद एवं गुह्य-साधना का विरोध किया तथा जिस विनोदवृत्ति द्वारा पूंजीवाद का मुखौटा उतारा वह उनके आलोचक को बहुत बड़ा बनाता है।

आचार्य शुक्ल ने हैकेल के 'रीडिल ऑफ द यूनिवर्स' का विश्वप्रपंच शीर्षक से अनुवाद करने के साथ-साथ उसकी जो विस्तृत भूमिका लिखी वह उनकी विश्वसंदृष्टि, जीवन दृष्टि और काव्यदृष्टि को निश्चित आयाम एवं आकार प्रदान करता है। आपके व्यक्तित्व में निहित वैज्ञानिक चेतना तथा वस्तुनिष्ठता के निर्माण में इस ग्रंथ की महती भूमिका रही है। आप विकासवाद तथा भौतिकवाद के स्वीकार के साथ-साथ सृष्टि के मूल में विश्वात्मा को मानते हैं जो आपके व्यक्तित्व का भारतीयकरण कर देता है। आचार्य शुक्ल के व्यक्तित्व के मूल मर्म को समझने के लिए विश्वप्रपंच की भूमिका में लिखित उनके इस कथन को समझना जरूरी है। वे लिखते हैं कि, "प्राकृतिक पदार्थों के भीतर एक गूढ़ रहस्य भरा हुआ है। कट्टर वैज्ञानिक इस विषय में जो बातें बतलाते हैं; उनकी विद्या की पहुँच के अनुसार ठीक है, पर अंशतः। जब हम मोर की पूंछ की चंद्रिकाओं में रंगों का चित्र-विचित्र मेल देखते हैं कि किस प्रकार वे अपनी-अपनी जगह पर एक निश्चित नमूने और नक्शे को भरते हुए बैठे हैं तब यह कहना अत्यंत कठिन हो जाता है कि ऐसी क्रम व्यवस्था के साथ मेल केवल रासायनिक नियमों द्वारा होता है। फूल गर्भाधान के लिए कीड़ों को आकर्षित करते हैं और फल बीजों को फैलाने के लिए जानवरों को। पर इस सम्बन्ध में इतनी ही व्याख्या काफी नहीं है। हमें जीवन के लिए इतनी जो हाय-हाय रहती है उसे समझना चाहिए। इस प्रयत्न का कोई रहस्य होगा और विकास का कोई उद्देश्य होगा। प्राकृतिक ग्रहण सिद्धांत जहां तक पहुंचता है हेतु निरूपण करता है। पर यदि इतने सौंदर्य की आवश्यकता केवल कीड़ों के लिए है तो हम वन, पर्वत, मेघमाला आदि के सौन्दर्य के लिए क्या कहेंगे ? उनके सौंदर्य से कौन सा काम निकलता है, कौन सा लौकिक अर्थ-साधन होता है ? विज्ञान सौंदर्य का विवेचन नहीं करता, न करे, पर उसका अस्तित्व अवश्य है। मैं केवल इस बात की ओर ध्यान दिलाना चाहता हूँ कि हमारे अनुसंधान में ब्रह्मांड की सारी बातें नहीं आ जातीं । इससे हम निष्कर्ष करते चलते हैं और कहते हैं कि भौतिक विज्ञान और रसायन के अंतर्गत हम सारी बातों को ला सकते हैं तो हम केवल संकीर्ण पांडित्य का दंभ दिखाते हैं और अपने मनुष्य जन्म के अधिकार और पूर्णता को खो देते हैं।"[1]

यह समग्र दृष्टि ही शुक्लजी को अंतर्दृष्टि एवं विश्वसंदृष्टि सम्पन्न आलोचक बनाती है। वे पहले बड़े अंतःअनुशासनिक आलोचक हैं जो पाठकेन्द्रित आलोचना पद्धति का पुरस्करण करते हैं। आप एक साथ वृहद फलकीय (Macro) और गहनस्तरीय (Micro) आलोचक हैं। आप हिंदी आलोचना कोकेवल विश्वस्तरीय ही नहीं बनाते अपितु उसे लोकतांत्रिक व्यक्तित्व

भी प्रदान करते हैं। इसके लिए आप विरुद्धों का सामंजस्य जैसे शब्दबंध को सिद्धांत का जामा पहनाते हैं। शुक्लजी का स्पष्ट अभिमत है कि,"समीक्षा अच्छी तरह देखना और विचार करना है; वह जब होगी, विचारात्मक होगी। कल्पनात्मक या भावात्मक कृति की परीक्षा विचार या विवेचन द्वारा ही हो सकती है, उसके जोड़ में दूसरी कल्पना भिड़ाने से नहीं।' विचार के प्रति यह आग्रह ही शुक्लजी की आलोचना को विश्वसनीय और लोकोपयोगी बनाता है। इनकी आलोचना लोकहृदय, लोकमंगल, लोकधर्म तथा लोकहित जैसे शब्दों के द्वारा अर्थव्याप्ति प्राप्त करती है । आप केवल मानवीय अधिकारों और लोकहित की ही बात नहीं करते हैं अपितु हिंदी जगत की साहित्यिक अभिरुचि को ऊपर उठाते हैं। उसका परिष्कार करते हैं। आचार्य शुक्ल ने लोकधर्म को अपनी आलोचना का चरम प्रतिमान बनाकर हिंदी आलोचना को समाजशास्त्रीय आयाम प्रदान किया। मेरा मानना है कि यह इतना व्यापक मानदंड है कि यदि इसका सम्यक् प्रयोग किया जाए तो हम समाजशास्त्रीय आलोचना का भारतीयकरण कर सकते हैं। साहित्य का समाजशास्त्र जिस वस्तुनिष्ठ पद्धति और ठोस प्रतिमान की अपेक्षा करता है वह शुक्लजी के लोकधर्म तथा भारतीय काव्यशास्त्र में प्रयुक्त 'श्रेय' एवं 'प्रेय' शब्द से प्रतिपूर्ति पाता है। शुक्लजी अपने समय एवं समाज के प्रति कितने जागरूक थे, यह उनके साहित्येतर निबंधों द्वारा देखा जा सकता है। वे 'भारत को क्या करना चाहिए '? नामक निबंध में तत्कालीन शासन-व्यवस्था के अंतर्विरोध को बखूबी उजागर किया है। वे लिखते हैं कि, "हमारा प्रशासनिक जगत ऐसा क्षेत्र रह गया है, जहां प्रतियोगिता के लिए कोई जगह हो, जिसमें योग्यता की जांच का कोई मौका हो। शिक्षा को इसके दरवाजे पर दुत्कार मिलती है, गुण को इसके कमरों में खारिज कर दिया जाता है। यह बनावटीपन और चालाकी की दुनिया है। यहां सिर्फ 'अनुभव' की जरूरत है, जो सलाम बजाने और' हुजूर ' के हुक्म को दुहराने का ही दूसरा नाम है। जिस आदमी के पास यह योग्यता नहीं, वह कितना ही विद्वान क्यों न हो, उसे यहां प्रवेश नहीं मिल सकता ।"[2]

आचार्य शुक्ल अपने समय के राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, शैक्षणिक एवं राष्ट्रीय आंदोलनों से गहरा सरोकार रखते थे। अपने गहन दायित्वबोध के कारण वे नवजागरण की मूल चेतना का स्वयं में संश्लेषण करते हैं। आज जब हम आत्मनिर्भर भारत की संकल्पना को साकार करने के लिए प्रयासरत हैं तो हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि गांधीजी का स्वदेशी आन्दोलन भी उसका मूल रूप है। शुक्लजी अतिशय तन्मयता के साथ 'स्वदेशी आन्दोलन' पर लिखते हैं। उनके अनुसार यह लाखों लोगों को भुखमरी से बचाने के लिए और नियमित रोजगार के अभाव में भटक रहे लाखों लोगों को काम देने के उद्देश्य से चलाया गया आंदोलन है। इसके मूल में कोई दुर्भावना या कोई बदले की भावना काम नहीं कर रही है। यह एकदम शुद्ध और निश्छल है।"[3] वे आगे ईसाईयों को भी संबोधित करते हुए कहते हैं कि "सदाशय क्रिश्चियन भाइयों, क्या हम आपसे भी ऐसी उम्मीद करें ? क्या आप मानवता के नाम पर मदद के लिए हाथ बढाएंगे ? या यह कहेंगे कि "हमें किसी भी दूसरी चीज की परवाह नहीं । हम सिर्फ अपना बटुआ भरना चाहते हैं।" "भरते रहो और भूखे मरते रहो"--- क्या यही आपका शासक सिद्धांत होगा ? आज तक हम अपने कर्तव्य के प्रति आंखें मूंदे हुए थे। अब हम उसके प्रति सजग हो गए हैं। इस क्षण में जो हमारे साथ हैं वे हमारे दोस्त हैं, जो खुद को अलग रखे हुए हैं, उदासीन हैं और जो हमारी

मुखालिफत करते हैं, वे हमारे दुश्मन हैं। मेरे देशवासियों जो इलाज आपने खोजा है, वही एकमात्र इलाज़ है। उसे दृढ़ता से पकड़े रहिए।"[4] आचार्य रामचंद्र शुक्ल नवजागरण कालीन सुधारों, संघर्षों एवं द्वंद्वों को संपूर्णता में देखने वाले आलोचक हैं। इनके अनेक निबंध तत्कालीन राजनीतिक और आर्थिक संदर्भों की गहरी पड़ताल करते हैं। इस दृष्टि से उनका 'असहयोग और अव्यापारिक श्रेणियां' शीर्षक निबंध ऐतिहासिक महत्त्व का बन पड़ा है। वे अपने विवेचन के अंत में लिखते हैं कि "सम्पूर्ण स्थिति का सर्वाधिक आतंककारी पहलू यह है कि सारा हिंदी प्रेस व्यापारिक समुदाय के चंगुल में आ गया है। राष्ट्रवादी हिंदी समाचार पत्रों में से अधिकांश अपने अस्तित्व के लिए इनकी पूंजी पर आश्रित हैं। अथवा अपने प्रचार प्रसार के लिए इस पूंजी के मोहताज हैं। कलकत्ता के हिंदी दैनिक 'बड़ा बाजार' के विचारों से अत्यधिक प्रभावित हैं। इसका कारण वर्नाकुलर साहित्य का बहिःप्रवाह है जो सामाजिक सुव्यवस्था एवं अनुशासन के सभी नियमों का विरोध करता है। ऐसी स्थिति में अव्यापारिक समुदाय को ऐसे राष्ट्रीय अंगों की आवश्यकता है जो अस्वस्थ व्यापारिक प्रभावों से मुक्त हो और जो भारतीय जीवन के प्रत्येक स्तर के साथ सुसंगत राष्ट्रवाद का आदर्श निर्मित करते हों। सिद्धान्तों का प्रतिपादन एवं मानदंडों का निर्धारण करना होगा। जब तक देश के प्रत्येक भाग में इस प्रकार के समाचार पत्र नहीं प्रारम्भ किए जाते तब तक गैर जिम्मेदार उत्साहियों के विसंगत प्रस्तुतीकरण से अव्यापारिक, राजनीतिक एवं कृषक श्रेणियों के हितों को हानि होती रहेगी।"[5] इस तरह शुक्लजी किसानों, मजदूरों तथा साधारण जनता के लिए गहराइयों तक उन्मथित थे।

शुक्लजी असहयोग आंदोलन को केवल किसानो, मजदूरों तथा अव्यापारिक श्रेणियों तक सीमित रखने के एकांगी स्वरूप का प्रतिरोध करते हुए लिखते हैं कि "यदि अव्यापारिक राजनीतिक श्रेणी को राजकीय सेवा से अपने को हटा लेने का निर्देश दिया जाता है तो व्यापारिक श्रेणियां भी ब्रिटिश या विदेशी वस्तुओं के साथ अपना समस्त व्यापार छोड़ देने को तैयार रहें। जब असहयोग राजस्व का भुगतान न करने की सीमा तक जा सकता है तो भूमि अधिकारी या कृषक वर्गों के पास क्या गारंटी है कि जिस समय उनकी जमीन नीलामी पर रखी जाएगी उस समय व्यापारिक समुदाय के सदस्य उनकी जमीनों को खरीद लेने के लिए आगे बढ़कर भाग-दौड़ नहीं करेंगे। दोनों वर्गों द्वारा समान त्याग का सिद्धांत असहयोगियों की नीति में चरितार्थ होना चाहिए।"[6] कहने का आशय यह है कि शुक्लजी चाहते थे कि असहयोग आंदोलन से होने वाला नुकसान केवल किसानों, मजदूरों, असंगठित क्षेत्रों और अव्यापारिक श्रेणियों तक सीमित न रखा जाए बल्कि उसमें व्यापारियों, उद्योगपतियों और जमींदारों की भूमिका भी सुनिश्चित की जाए अन्यथा समाज का सबसे कमजोर वर्ग और भी कमजोर हो जाएगा। यही कारण है कि वे गांधीजी के स्वराज संबंधी विचारों को कल्पना-विलास की संज्ञा देते हैं।

हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि आचार्य रामचंद्र शुक्ल जितने बड़े इतिहासकार और आलोचक हैं उतने ही बड़े समाज चिंतक, मनोवैज्ञानिक, दृष्टिसजग संस्कृति चेता और वैज्ञानिक चेतना सम्पन्न अर्थशास्त्री भी हैं। उन्होंने जिस सजगता एवं गंभीरता से अपने समय की राजनीति, अर्थनीति एवं राष्ट्रबोध का विश्लेषण किया है वह अन्यत्र दुर्लभ है। एक सजग और गंभीर प्राध्यापक के गुणों को समेटने वाले शुक्लजी अपने लेखन में सर्वत्र गहन पर्यवेक्षण और अनुभव प्रवणता का परिचय देते हैं। शुक्लजी के चिंतन के केंद्र में लोकतांत्रिक दृष्टि और चराचर

जगत के कल्याण की कामना है। वे जिस व्यापकता और अंतर्दृष्टि के साथ देश-प्रेम के स्वरूप का विश्लेषण करते हैं, वह सहृदय पाठक के लिए रमणीय वस्तु है । वे लिखते हैं कि, "यदि किसी को अपने देश से प्रेम है तो उसे अपने देश के मनुष्य, पशु, पक्षी, लता, गुल्म, पेड़, पत्ते, वन, पर्वत, नदी, निर्झर सबसे प्रेम होगा, सबको वह चाहभरी दृष्टि से देखेगा, सबकी सुध करके वह विदेश में आंसू बहाएगा। जो यह भी नहीं जानते कि कोयल किस चिड़िया का नाम है, जो यह भी नहीं सुनते कि चातक कहाँ चिल्लाता है, जो आंख भर यह भी नहीं देखते कि आम प्रणय-सौरभपूर्ण मंजरियों से कैसे लदे हुए हैं, जो यह भी नहीं झांकते कि किसानों के झोपड़ों के भीतर क्या हो रहा है, वे यदि दस बने ठने मित्रों के बीच प्रत्येक भारतवासी की औसत आमदनी का परता बताकर देश-प्रेम का दावा करें तो उनसे पूछना चाहिए कि, भाइयों! बिना परिचय का यह प्रेम कैसा ? जिनके सुख-दुःख के तुम कभी साथी न हुए उन्हें तुम सुखी देखना चाहते हो, यह समझते नहीं बनता। उनसे कोठों दूर बैठे-बैठे, पड़े-पड़े या खड़े-खड़े, तुम विलायती बोली में अर्थशास्त्र की दुहाई दिया करो, पर प्रेम का नाम उसके साथ न घसीटो । प्रेम हिसाब-किताब की बात नहीं है। हिसाब-किताब करने वाले भाड़े पर भी मिल सकते हैं पर प्रेम करने वाले नहीं। हिसाब-किताब से देश की दशा का ज्ञान मात्र हो सकता है। हित चिंतन और हित-साधन की प्रवृत्ति इस ज्ञान से भिन्न है।"[7] कहना न होगा कि यह साफगोई और साहसपूर्ण अभिव्यक्ति ही आचार्य शुक्ल की सबसे बड़ी शक्ति है। वे सही मायने में सर्वांगपूर्ण आचार्य हैं जिसने काव्यशास्त्र, आलोचना, साहित्य, संस्कृति, कला, धर्म, दर्शन, विज्ञान, समाज, राजनीति, अर्थनीति, देश-प्रेम और राष्ट्रबोध जैसे विषयों पर अत्यंत सुचिंतित और अर्थपूर्ण लेखन किया है। आपने जिस आलोचनात्मक कौशल और विवेक के साथ लोकहृदय की सच्ची परख रखने वाले कवियों की अंतरवृत्तियों की मार्मिक व्याख्या करते हुए उन्हें उच्चासन प्रदान किया तथा परंपरा जिस केशवदास को नक्षत्र मानती आई है, उन्हें कवित्व एवं आचार्यत्व दोनों से अपदस्थ कर दिया तो बाद के कई प्रयास भी उन्हें दुबारा वह स्थान नहीं दिला पाए। प्रख्यात अंग्रेजी आलोचक मैथ्यू आर्नल्ड का यह कथन कि, 'सच्चा आलोचक वही है जो महान काव्य की प्रशंसा करे और द्वितीय श्रेणी के काव्य की ओर से उदासीन रहे - आचार्य शुक्ल द्वारा रामचरितमानस और रामचंद्रिका की व्याख्याओं पर अक्षरशः सत्य सिद्ध होता है।

आचार्य शुक्ल नवजागरण काल की श्रेष्ठतम उपलब्धि हैं। भारतीय काव्यालोचन के सबसे बड़े आलोचक हैं। प्रायः देखा गया है कि बड़े से बड़े आलोचकों के बोध और अभिरुचि की भी अपनी मर्यादाएं होती हैं। शुक्लजी भी इसके अपवाद नहीं हैं। वे संपूर्ण हिंदी साहित्य की जो तलस्पर्शिनी गंभीर व्याख्या करते हैं वही बौद्धिक खुलापन एवं विश्लेषण क्षमता छायावाद और उस दौर के कवियों के साथ नहीं दिखा पाते। बावजूद इसके उनकी स्थापनाएं आज भी उतनी दृढ़ तथा प्रासंगिक हैं। उनकी उपेक्षा संभव नहीं है। उदाहरण के लिए शुक्लजी ने कामायनी की आरंभिक समीक्षा में जो लिखा, वह आज भी उतना ही महत्वपूर्ण एवं अर्थगर्भी है। इन्होंने कामायनी के संदर्भ में चार बातों का जिक्र किया है–1. बुद्धि के अतिरेक का विरोध 2. विज्ञान और यंत्रों की वृद्धि के प्रति क्षोभ 3. वर्गहीन समाज की साम्यवादी पुकार और 4. विज्ञान के नए अनुसंधानों का परिचय। आपने कामायनी के संदर्भ में यहां तक लिखा है कि,

"अर्थभूमि का संकोच है, बाकी सब ठीक है।" आचार्य शुक्ल को कामायनी के अलग-अलग बिन्दुओं के वस्तुनिष्ठ विश्लेषण में जो सफलता मिली है वह कई पुस्तकों के बराबर है। आपने संपूर्ण कामायनी के संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित विश्लेषण के उपरांत यह भी कहा था कि, "कामायनी के अलग-अलग सर्गों में बड़ी ही रमणीय चित्रमयी कल्पना, अभिव्यंजना की अत्यंत मनोरम पद्धति दिखाई देती है।" वे लिखते हैं कि कामायनी में स्थान-स्थान पर प्रकृति की मधुर, भव्य और आकर्षक विभूतियों की योजना तो है ही, प्रकृति के ध्वंसकारी भीषण वेग रूप का अत्यंत व्यापक परिधि के बीच चित्रण हुआ है। इस संदर्भ में शुक्लजी की अंतिम स्थापना यह है कि प्रसादजी छायावाद की चित्रमयी मनोरम भाषा-शैली में भी प्रबंध काव्य की आशा बंधा गए हैं। कहना न होगा कि शुक्लजी के एक-एक वाक्य कामायनी के मूल्यांकन का स्वतंत्र प्रतिमान बन सकते हैं। उसकी जटिल-संरचना और बहुलार्थता का उन्मेष कर सकते हैं। कामायनी के संदर्भ में आचार्य शुक्ल यह भी लिखते हैं कि, "उसमें कथावस्तु का विन्यास नाटकीय पद्धति पर करके उन्होंने बाह्य और आभ्यंतर परिस्थितियों का व्यंजक, मनोहर, मार्मिक या आवेशपूर्ण शब्द विधान किया है। पर कहीं कहीं जहां मधुमय चित्रों की परंपरा दूर तक चली है वहाँ समन्वित प्रभाव में बाधा पड़ी है। 'कामायनी' में उन्होंने नरजीवन के विकास में भिन्न-भिन्न भावात्मिका वृत्तियों का योग और संघर्ष बड़ी प्रगल्भ और रमणीय कल्पना द्वारा चित्रित करके मानवता का रसात्मक इतिहास प्रस्तुत किया है।[8] इस तरह आचार्य शुक्ल ने अत्यल्प शब्दों में जिस गहनता के साथ कामायनी पर निर्णयात्मक टिप्पणी की है वह उनकी असाधारण समझ और विराट चिंतन का स्वयंसिद्ध प्रमाण है।

संक्षेप में, आचार्य रामचंद्र शुक्ल केवल नवजागरणकालीन साहित्य के सबसे बड़े लोचक ही नहीं बल्कि उस समय के सृजित साहित्य के सबसे प्रामाणिक व्याख्याता भी हैं। आपने एक सुप्रतिष्ठ आचार्य की भांति साहित्येतिहास और आलोचना को एक प्रशस्त, वैज्ञानिक और सुस्पष्ट दिशा बोध प्रदान किया। एक सच्चे भारतीय मन एवं व्यापक बौद्धिक विश्लेषण क्षमता द्वारा आपने साहित्य के साथ-साथ ज्ञान-विज्ञान के अनेक अनुशासनों में अपनी गति का परिचय दिया। इतने व्यापक फलक पर इतने विविधवर्णी चित्रों का निर्माण कोई दूसरा भारतीय आलोचक नहीं कर सका है। इनके संपूर्ण अवदान के वस्तुनिष्ठ विश्लेषण के लिए यह जरूरी है कि हम इनके संपूर्ण लेखन का नया पाठ तैयार करें। उसके अंतःअनुशासनिक महत्व का पुनर्पाठ तैयार करें, तभी हम हिंदी नवजागरण के इस अनुपक्षणीय व्यक्तित्व के महत्व का सम्यक् निर्वचन कर सकते हैं।

संदर्भ-सूची–

1. विश्वप्रपंच की भूमिका, रामचंद्र शुक्ल, स्रोत-ओमप्रकाश सिंह सं. आचार्य रामचंद्र शुक्ल ग्रंथावली, भाग-6, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2017, पृष्ठ 18
2. आचार्य रामचंद्र शुक्ल के श्रेष्ठ निबंध संपा. सत्यप्रकाश मिश्र, लोकभारती पेपर बैक्स, प्रथम संस्करण, 2010, पृष्ठ 298
3. वही, पृष्ठ 299
4. वही, पृष्ठ 312
5. वही-पृष्ठ, 312
6. वही, पृष्ठ 313
7. वही, पृष्ठ 75
8. हिंदी साहित्य का इतिहास, रामचंद्र शुक्ल, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2011, पृष्ठ 538

प्रोफेसर, हिंदी विभाग,

मुंबई विश्वविद्यालय, मुंबई, महाराष्ट्र

5 आदिवासी विमर्श : इतिहास, संघर्ष और प्रासंगिकता

मोहन कुमार

किसी स्थान विशेष के मूल निवासियों को 'आदिवासी' कहा जाता है। आदिवासी ही किसी देश के मूल निवासी होते हैं। आदिवासी शब्द दो शब्दों 'आदि' और 'वासी' से मिलकर बना है। 'आदि' का शाब्दिक अर्थ होता है- प्रारंभ या शुरु और 'वासी' का अर्थ होता है- निवास करने वाला। "सामान्यत: आदिवासी Aboriginal (एबोरिजिनल) शब्द का हिंदी अनुवाद है। इसका प्रयोग किसी भौगोलिक क्षेत्र के उन निवासियों के लिए किया जाता है जिसका उस भौगोलिक क्षेत्र से पुराना संबंध हो। आदिवासी एक सामान्य शब्द है जिसमें कोई वैज्ञानिक अर्थ बोध नहीं होता है जबकि अनुसूचित जनजाति (Scheduled Tribe) आदिवासियों का संवैधानिक नाम है जिसमें एक निश्चित अर्थ ध्वनित होता है।"[1] भारत में आदिवासियों का इतिहास बहुत पुराना है। रामायण और महाभारत जैसे ग्रंथों में वे शब्द उपस्थित हैं जिनके द्वारा लंबे समय तक आदिवासियों को संबोधित किया जाता रहा। इस भारतभूमि के मूल रहवासी आदिवासी ही हैं। वास्तव में आदिवासी मनुष्यों का वह समूह है जो आर्यों के पूर्व से ही सैकड़ों-हजारों वर्षों से अपने मूल निवास पर रहता आ रहा है। प्रकृति और मानव के तमाम अत्याचारों के बाद भी इन वास्तविक धरती पुत्रों ने किसी भी कीमत पर अपने जमीन से जुदा होना स्वीकार नहीं किया, भले ही उन्हें शोषित और वंचितों की तरह वनों और गिरी कंदराओं में निवास करने के लिए मजबूर होना पड़ा। आदिवासियों की शिनाख्त करता और उनके वनवासी होने की व्यथा-कथा को महात्मा ज्योतिबा फुले के इन मार्मिक वचनों में महसूस किया जा सकता है:

"गोंड भील क्षेत्री ये पूर्व स्वामी
पीछे आए वहीं इरानी
शूर, भील मछुआरे मारे गए रारों से
ये गए हकाले जंगलों गिरीवनों में।" [2]

आदिवासियों का इतिहास भारत के इतिहास के समान ही प्राचीन है। लंबे समय तक भारत के सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक विकास में आदिवासियों के योगदान का उल्लेख नहीं किया गया। विदेशी इतिहासकारों ने सामान्य भारत का इतिहास आदिवासियों के इतिहास से काटकर लिखा। औपनिवेशिक मानसिकता से लिखे गये भारत के इतिहास में आदिवासियों के इतिहास का उनके योगदान का कोई विशेष जिक्र नहीं किया गया। इससे यह धारणा बनी कि आदिवासियों का कोई इतिहास है ही नहीं। वे नितांत पिछड़े और असामाजिक हैं जिनके सामाजिक विकास का कोई इतिहास ही नहीं है। परंतु आधुनिक इतिहास लेखन में आदिवासियों के इतिहास और उनके सामाजिक विकास की पहचान की गई है। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि आदिवासियों के अस्तित्व का एक प्राचीन इतिहास रहा है। यहां वेरियर एल्विन कि उस अवधारणा का उल्लेख आवश्यक है जिसे आगे चलकर भारत की संविधान सभा में

रखा गया। "आदिवासी भारत वर्ष की वास्तविक स्वदेशी उपज है जिनकी उपस्थिति में प्रत्येक व्यक्ति विदेशी है। ये वे प्राचीन लोग हैं जिनके नैतिक अधिकार और दावे हजारों वर्ष पुराने हैं। उन पर सबसे पहले हमें विचार करना चाहिए।"[3] आधुनिक भारत की रचना में अनेक जातियों और जनजातियों ने योगदान दिया है। इस प्रक्रिया में आदिवासियों के योगदान को भी कतई नजरअंदाज नहीं किया जा सकता है। भारत की सामाजिक, सांस्कृतिक संरचना में आदिवासियों का महत्वपूर्ण अवदान तो रहा ही है, साथ ही भारतभूमि की रक्षा करते हुए भी आदिवासियों ने त्याग, समर्पण और बलिदान का परिचय दिया है। "अंग्रेजों के शासन के विरुद्ध बहुत बड़ा विद्रोह करके मातृभूमि को दासता से मुक्त करने के लिए स्वतंत्रता की यज्ञवेदी पर चढ़े बाबूराव सेडमाके, बिरसा मुंडा, सिद्धो-कान्हू संथाल, तंट्या भील, उमेड़ वसावा, शंकरशहा-रघुनाथ आदि सभी वीर आदिवासी थे।"[4] परंतु प्रारंभ से ही भारत में सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक विकास की प्रक्रिया से आदिवासियों को दूर ही रखा गया। आदिवासी भारतभूमि के मूल निवासी हैं। प्राचीन ग्रंथों में भी आदिवासियों के अस्तित्व का प्रमाण प्राप्त होता है। लेकिन आजादी के बाद आदिवासियों की स्थिति और उनके जीवनयापन के स्तर को बेहतर बनाने का कोई सार्थक प्रयास दिखाई नहीं पड़ता है। आधुनिकता के आरंभ के साथ विकास की चली आती हुई प्रक्रिया आदिवासियों के अस्तित्व के लिए और घातक सिद्ध हुई। आदिवासियों के साथ अन्यायपूर्ण व्यवहार प्रारंभ से ही होता आ रहा है। "संस्कृत साहित्य में जहां आदिवासियों को असुर, निषाद, दस्यु, वानर और राक्षस प्रभृत नामों से संबोधित किया गया है"[5], वहीं आधुनिक भारत में आदिवासी शब्द को संविधान ने मान्यता नहीं दी है। इस शब्द की उपेक्षा की गई है और इसके बदले 'जनजातीय' शब्द को थोपा गया है। जबकि जनजातीय शब्द का प्रयोग 1940 ई. के पूर्व नहीं था। यह शब्द आदिवासियों के गौरव, स्वाभिमान, आत्मसम्मान को नहीं उठा सकता। इसलिए वर्तमान संदर्भ में आदिवासी विमर्श का महत्व और भी बढ़ जाता है।

दुनिया की दूसरी सर्वाधिक जनसंख्या वाला हमारा भारत देश विकास के मामले में अभी भी विकासशील देशों की श्रेणी में ही शामिल है। जबकि हमसे कम मानव संसाधन वाले कई देश विकसित हो चुके हैं। आजादी के बाद देश में सामाजिक और आर्थिक विकास की जो प्रक्रिया शुरू हुई वह अबतक जारी है। स्वाधीनता के 70 वर्षों के सफर में भारत ने विभिन्न क्षेत्रों में अपना मुकाम बनाया। विविधता में एकता का श्रेष्ठ प्रतीक हमारा देश गांवों का देश है। वर्ष 2011 की जनगणना के अनुसार भारत की लगभग 70 प्रतिशत जनसंख्या गांवों में रहती है। परंतु गांवों में विकास की रफ्तार बहुत धीमी रही। इसी तरह करीब 10 करोड़ की आबादी वाला आदिवासी समुदाय भी व्यवस्था की विसंगतियों के कारण विकास की प्रक्रिया से कोसों दूर ही रहा। आदिवासी क्षेत्रों में शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार और अन्य सुविधाओं की पहुंच देर से और बेहद कम पहुंची है। इस कारण आदिवासियों के रूप में देश की आबादी का एक बड़ा हिस्सा देश के विकास की प्रक्रिया से अलग ही रहा। उल्टे आधुनिक विकास के अंधे दौड़ ने आदिवासियों के अस्तित्व पर संकट उत्पन्न कर दिया। जंगलों को उजाड़ कर आदिवासियों को उनकी मूल जगहों से हटाया

जाने लगा और प्राकृतिक संसाधनों का अविवेकपूर्ण दोहन शुरू हो गया। आदिवासियों ने अपने स्तर पर इन गतिविधियों का पुरजोर प्रतिरोध किया और अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए संघर्ष करना प्रारंभ कर दिया, जो आज भी जारी है।

साहित्य में आदिवासी जीवन की समस्या, उनके ऊपर व्यवस्था के अत्याचारों और आदिवासियों के संघर्ष को रचनात्मक अभिव्यक्ति देने के लिए तथा उनके जीवन संघर्षों को शेष दुनिया तक पहुंचाने के लिए और उनके पक्ष में अपना समर्थन व्यक्त करने के लिए अस्सी के दशक में हिंदी साहित्य में आदिवासी विमर्श का दौर आरंभ हुआ। इस विमर्श के मूल में एक प्रकार की चेतना कार्य कर रही थी जो आदिवासियों के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक स्थितियों को बेहतर करने के उद्देश्य की भावना से संपन्न थी। इस विमर्श ने स्वातंत्र्योत्तर भारत के नौवें दशक में आंदोलन का रूप धारण कर लिया। सन् 1991 ई. में भारत में आर्थिक उदारीकरण की प्रक्रिया आरंभ की गई। इस आर्थिक उदारीकरण और मुक्त व्यापार की व्यवस्था से एक तरफ जहां विकास की प्रक्रिया तेज हुई वहीं दूसरी तरफ आदिम काल से आदिवासियों की संचित संपदा को लूटने का उपक्रम भी चालू हो गया। बड़ी-बड़ी देशी और विदेशी बहुराष्ट्रीय कंपनियों के द्वारा आदिवासियों को उनके मूल स्थान से विस्थापित कर जल, जंगल और जमीन का दोहन किया जाने लगा। बीसवीं सदी के अंतिम दशक के ऐसे ही जटिल समय में शुरू हुआ आदिवासी विमर्श आदिवासियों की अस्मिता का विमर्श है और इसके केंद्र में आदिवासियों की जल, जंगल और जमीन की चिंता प्रमुख है। इस प्रक्रिया में आदिवासियों ने अपने लिए इतिहास के सूत्रों की तलाश नए सिरे से की। उन्होंने अपने नेताओं की पहचान की और अपने लिए नेतृत्व का निर्माण किया। उन्होंने समर्थ आदिवासी साहित्य की भी रचना की। आदिवासी साहित्य की मुख्य विशेषता उसमें अभिव्यक्त प्रतिरोध है। आदिवासी विमर्श भी आदिवासी अस्मिता की पहचान तथा उसके अस्तित्व संबंधी संकटों और उसके खिलाफ जारी प्रतिरोध का साहित्य है। यह देश के मूल निवासियों के वंशजों के प्रति किसी भी प्रकार के भेदभाव का विरोध करता है। यह जल, जंगल, जमीन और जीवन की रक्षा के लिए आदिवासियों के 'आत्मनिर्णय' के अधिकार की माँग करता है।

आदिवासी विमर्श के कारण आदिवासी जीवन से संबंधित साहित्य की रचना में पर्याप्त प्रगति और वृद्धि हुई। विविधताओं से भरा हुआ आदिवासी साहित्य बहुत ही समृद्ध है। आदिवासी समाज को समझने, उनकी समस्याओं से रूबरू होने और उनकी चुनौतियों के समाधान के लिए आदिवासी साहित्य हमारे लिए महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है। आदिवासी विमर्श के दौरान आदिवासियों से संबंधित तीन प्रकार के साहित्य लिखे गए। पहला आदिवासियों के विषय में गैर आदिवासियों द्वारा लिखा गया साहित्य, दूसरा आदिवासियों के द्वारा लिखा गया साहित्य और तीसरा आदिवासी दर्शन को आधार बनाकर लिखा गया साहित्य। इनमें पहले और दूसरे प्रकार का आदिवासी साहित्य ज्यादा प्रमाणिक और ठोस माना जाता है। वस्तुतः "आदिवासी दर्शन ही वह तत्व है, जो आदिवासी समाज और साहित्य को शेष समाज और साहित्य से अलग करता है। यह आदिवासी समाज का मूल है। आदिवासी दर्शन आदिवासी साहित्य की मूल शर्त है, वहीं इसे बचाना आदिवासी साहित्य आंदोलन का मुख्य ध्येय।"[6] आदिवासी विमर्श ने आदिवासी

रचनाशीलता को व्यक्त करने के लिए मुख्य रूप से कविता, कहानी, उपन्यास और संस्करण जैसी विधाओं को अपनाया। साहित्य की एक लंबी और समृद्ध मौखिक गेय परंपरा पूर्व से ही आदिवासियों के बीच उपस्थित थी जिसका लाभ आदिवासी रचनाकारों को हुआ। कविता आदिवासी विमर्श की प्रमुख विधा बनी। आदिवासियों की अस्मिता और संघर्ष की अभिव्यक्ति कविता में सर्वाधिक सशक्त ढंग से हुई है। कहानी और आत्मकथात्मक लेखन आदिवासी विमर्श में केंद्रीय स्थान नहीं बना सका। इसका एक कारण यह है कि आदिवासी समाज स्वभावतया और मूलतः आत्म में नहीं समूह में विश्वास करता है। "आदिवासियों की परंपरा, संस्कृति, इतिहास कला से लेकर विद्रोह तक, सबकुछ सामूहिक है और समूह की बात आत्मकथा में नहीं, जनकविता में ज्यादा अच्छे से व्यक्त हो सकती है।"[7] आदिवासी विमर्श के बीच रचनाकारों ने बिरसा, सिदो-कान्हू, सिनगी दई, फूलों झानो, माकी मुंडा, गोंड रानी दुर्गावती और आदिवासियों के अन्य पुरखे क्रांतिकारी नेताओं और महान व्यक्तित्वों के जीवन और आंदोलनों से चेतना और प्रेरणा ग्रहण करते हुए उनको रचनात्मक रूप से अपनाने का महत्वपूर्ण कार्य किया है। महाराष्ट्र के कवि भुजंग मेश्राम बिरसा-चेतना से लैस अपनी एक कविता में बिरसा के किसी दिशा से भी और किसी चीज से भी आने की बात करते हैं

"बिरसा तुम्हें कहीं से भी आना होगा-
घास काटती दरांती हो या लकड़ी काटती टांगी
यहां-वहां पूरब-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण
खेतों की बयार बन कर
कहीं से भी आ मेरे बिरसा
लोग तेरी बाट जोहते!"[8]

दरअसल बिरसा शक्ति और प्रतिरोध के उस शास्वत विश्वास के प्रतीक हैं जो आदिवासियों के तन-मन में ही नहीं बल्कि उनके दरांती और टांगी जैसे उपकरणों में भी व्याप्त हैं।

इक्कीसवीं सदी में कविता, कहानी, उपन्यास, आत्मकथा आदि तमाम विधाओं में आदिवासी जीवन केंद्रित रचनाएं प्रकाशित हुई हैं। इन रचनाओं में आदिवासियों के अस्तित्व पर छाये संकट का बेहद मार्मिक वर्णन किया गया है। सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक स्तर पर आदिवासियों के साथ हो रहे अन्याय और छलावे का बेबाक वर्णन इन रचनाओं में मिलता है। अपनी पहचान को लेकर आदिवासियों के सामने जो भयानक विडंबना आज उपस्थित हुई है उनको रचनाकारों ने व्यक्ति प्रदान की है। आदिवासियों के निवास स्थानों पर बाहरी लोगों के घुसपैठ के कारण जो भयानक परिस्थिति उत्पन्न हुई, उसने आदिवासियों के अस्तित्व को ही समाप्त करने का कार्य किया है। आज आदिवासियों की सभ्यता, संस्कृति, उनका अपना धार्मिक विधान, भाषा-बोली, खानपान, वेशभूषा आदि तमाम विशेषताएं विलुप्त होने के कगार पर पहुंच गई हैं। आदिवासी भारत के मूल निवासी हैं और आदिवासियों के पहचान एवं उनके अस्तित्व से इस देश की शिनाख्त होती रही है। आज आदिवासी जीवन, संस्कृति और सभ्यता पर जो ख़तरा और संकट छाया है वह वास्तव में भारत की प्राचीन और ऐतिहासिक विरासत पर छाया संकट है। आदिवासी और उनसे जुड़े तत्वों का संरक्षण भारत की आत्मा के संरक्षण जैसा है। हजारों सालों से अन्याय, अत्याचार, शोषण और दमन सहते-सहते आदिवासी समुदाय लुप्त होने के कगार पर पहुंचकर भी झुकने को तैयार नहीं है।

आदिवासी समुदाय ने ही भारतीय जनमानस को प्रतिरोध की संस्कृति सिखाई है। आदिवासियों के शोषण सहन के मौन से प्रतिरोध के स्वर तक की यात्रा का अद्वितीय चित्रण रमणिका गुप्ता की इस कविता में दिखाई पड़ता है

"भूख को भूख, प्यास को प्यास कहना
आता नहीं था उन्हें
मार को मार, अन्याय को अन्याय
जुल्म को जुल्म कहना
उनकी सोच के दायरे में ही नहीं था
इसलिए बिना कहे-बिना बताए
मर जाते थे वे लोग
जंगल छोड़ भाग जाते
या भगा दिए जाते थे
जड़ों से काटकर
पर वे बोलते नहीं थे!

× × ×

अब वे सोचने लगे हैं
अपने फेफड़ों में हुए सुराख का राज
जान गए हैं
इसलिए मांग रहे हैं हिसाब
वह बोलने लगे हैं!"[9]

अपने क्षेत्र और मिट्टी से, अपने परिवेश से जुड़ाव और प्रेम की जो प्रवृत्ति आदिवासियों ने भारतीय जनता को सिखाई है वह अद्‌भुत है। प्रकृति से आदिवासियों का अटूट संबंध है। मनुष्य को प्रकृति के साथ किस तरह संतुलन और समन्वय स्थापित जीवन जीना चाहिए, यह गुण आदिवासियों से सीखी जा सकती है। आज प्राकृतिक असंतुलन से जो आधुनिक समस्याएं उत्पन्न हुई हैं उनका निदान भी हमारे आदिवासी समुदाय की जीवन पद्धति का प्रमुख अंग रहा है। आदिवासियों की सामूहिक चेतना का विशेष महत्व है। भारत के सामाजिक और सांस्कृतिक विकास में आदिवासियों के अवदान को भुलाया नहीं जा सकता।

भारतीय स्वाधीनता आंदोलन में भी आदिवासियों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। अंग्रेजी राज में आदिवासियों की संस्कृति, परंपरा, जीवन शैली आदि को खत्म करने का प्रयास अंग्रेजो के द्वारा किया गया। इसमें दीकू अर्थात बाहरी लोगों ने भी अंग्रेजों का साथ दिया। बहुराष्ट्रीय कंपनियों की तरह ही औपनिवेशिक शासन ने भी आदिवासियों के जल, जंगल, जमीन पर कब्जा करने की कोशिश की और आदिवासियों को उनकी जड़ों से दूर करने का प्रयास किया। कई उपजातियों और समूहों में बटे प्रकृति के सानिध्य में रहने वाले स्वतंत्रता प्रेमी और स्वाभिमानी आदिवासियों ने अंग्रेजो के खिलाफ अपनी स्वायत्तता की लड़ाई अलग-अलग लड़ी जो आगे चलकर भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन की आधारशिला बनी। तिलका मांझी ने 1871 ई. में संथाल परगना में अंग्रेजी राज्य के विरुद्ध विद्रोह की शुरुआत की, जो शीघ्र ही आसपास के आदिवासी क्षेत्रों में फैल गया। इसके बाद 'हो' आदिवासियों द्वारा सिंहभूम विद्रोह (1820 ई.), कोल विद्रोह(1831 ई), संथाल क्रांति(1855 ई.), लरका आंदोलन (1828-1832 ई.), खासी विद्रोह (1829ई.) आदि विभिन्न आदिवासी विद्रोह की अच्छी-खासी संख्या दिखाई पड़ती है। "एक तरफ जब 1857 की क्रांति को अंग्रेजों द्वारा पूरी तरह दबा दिया गया था, उस समय में भी बस्तर में आदिवासियों का असंतोष अंग्रेजी सत्ता के विरुद्ध विद्रोह की तैयारी कर रहा था। आम की हरी शाखा जिसे 'मीरो' कहा जाता है उनके प्रतीक चिन्ह थे। इन्हें घर घर पहुंचा कर आदिवासियों

को एकत्रित किया गया।"[10] अंग्रेजों के खिलाफ आदिवासियों के विद्रोह आगे भी चले, जिनका अपना सामाजिक, ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक महत्व है।

आधुनिकता और तकनीक के विकास के साथ-साथ आदिवासियों के अस्तित्व पर छाया संकट और अधिक गहरा गया है। दुनिया की विशाल आबादी के भरण-पोषण के लिए प्राकृतिक संसाधनों का दोहन और जंगलों का विनाश बड़े पैमाने पर किया जा रहा है। इससे संवेदनशील आदिवासी क्षेत्रों में बाहरी लोगों की आवाजाही बढ़ी है। बहुराष्ट्रीय कंपनियों की पूंजीवादी व्यवस्था ने विभिन्न संसाधनों के उत्पादन के नाम पर आदिवासियों को उनकी जमीनों से उजाड़ने का काम किया है। आदिवासी स्त्री, पुरुष और बच्चों के श्रम का दोहन किया जा रहा है और उन पर अत्याचार किए जा रहे हैं। नक्सलवाद और सलवा जुडूम जैसे संगठनों की प्रक्रियाओं से भी आदिवासियों को नुकसान ही पहुंचा है। सरकारी मशीनरी, अधिकारियों और सुरक्षाकर्मियों के द्वारा भी आदिवासियों को प्रताड़ित करने के प्रमाण मिलते हैं। घटते जंगल और तेज गति से हो रहे वन विनाश ने आदिवासी अस्मिता संकट को और भी गहरा बना दिया है। आदिवासियों की उपेक्षा और उनके शोषण का एक लंबा इतिहास है। वस्तुत दुनिया भर में आदिवासियों की कीमत पर गैर आदिवासियों के विकास का कुत्सित प्रयास बहुत पहले से किया जा रहा है और यह आज भी जारी है। रमणिका गुप्ता ने भारतीय संदर्भों में इसकी सटीक शिनाख्त की है कि 'भारत में भी आजादी के बाद देश के विकास के नाम पर सरकार ने भारी संख्या में आदिवासियों की जमीने अधिग्रहित की और उन्हें विस्थापित बना दिया। फलत: वे या तो रोजगार की खोज में पलायन कर दूसरे प्रदेशों में जाने लगे जहां उनकी भाषा और संस्कृति दोनों खत्म हो गई अथवा अपने ही घर मैं विस्थापित होकर किसान से खेतिहर मजदूर या बंधुआ मजदूर बन जाने पर मजबूर हो गए।'[11] पिछले तीन दशकों में हिंदी आदिवासी विमर्श ने एक दीर्घ यात्रा तय की है। इस दौरान रचनाकारों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से आदिवासी जीवन से संबंधित विभिन्न पक्षों को साहित्य की मुख्यधारा में शामिल किया है। आदिवासी विमर्श ने आदिवासी जीवन के विभिन्न पहलुओं को देखने और समझने की एक नवीन दृष्टि विकसित की है जो पहले की तुलना में अधिक संवेदनशील, सूक्ष्म और गहरी है। यह दृष्टि आदिवासी समुदाय की समस्याओं को अपनी शर्तों पर नहीं बल्कि आदिवासियों की शर्तों पर देखने समझने और उनके समाधान ढूंढने की पक्षधर है। आदिवासी विमर्श ने आदिवासियों के पक्ष में उनके हक और अधिकारों को सुरक्षित और संरक्षित करने के लिए अनुकूल वातावरण का निर्माण किया है। परंतु सच्चाई यही है कि आदिवासियों के अस्तित्व पर छाया संकट अभी खत्म नहीं हुआ है। अपने हक और अधिकारों के लिए, अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए एक लंबी लड़ाई इस समुदाय को लड़नी अभी बाकी है। धरती के मूल निवासी आदिवासियों की समस्याएं और उनकी चुनौतियों से संवेदना रखने वाले हम में से हर एक व्यक्ति की यह जिम्मेदारी है कि हम आदिवासियों के हक में आवाज उठाएं और आदिवासी जीवन, सभ्यता, संस्कृति को सुरक्षित रखते हुए भारत की ऐतिहासिकता को बचाने का प्रयास करें। हिंदी का आदिवासी विमर्श इन उद्देश्यों की पूर्ति में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है, इसलिए इसकी प्रासंगिकता निर्विवाद और महत्वपूर्ण है।

संदर्भ सूची :

1. भारत के आदिवासी : चुनौतियां एवं संभावनाएं संपा. जनक सिंह मीणा, कुलदीप सिंह मीणा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2017, पृ.103
2. आदिवासी कौन संपा. रमणिका गुप्ता, राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, पांचवा सं., 2016, पृ.27
3. समकालीन मानव शास्त्र, शंभूदयाल दोषी, पृ. 392
4. आदिवासी कौन, संपा. रमणिका गुप्ता, पृ. 25
5. वही, पृ. 92
6. आदिवासी और हिंदी उपन्यास: अस्मिता और अस्तित्व का संघर्ष, गंगा सहाय मीणा, अनन्य प्रकाशन, दिल्ली, 2016, पृ. 26
7. वही, पृ. 29
8. आदिवासी लेखन : एक उभरती चेतना, रमणिका गुप्ता, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय सं., 2017, पृ.19
9. वही, पृ.32
10. भारत के आदिवासी : चुनौतियां एवं संभावनाएं संपा. जनक सिंह मीणा, कुलदीप सिंह मीणा,, पृ.15
11. आदिवासी अस्मिता का संकट, रमणिका गुप्ता सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली-110002, संस्करण 2014, पृ. 57

शोधार्थी,
हिंदी विभाग,
काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी

6 मॉरीशस के हिन्दी कथा-साहित्य में व्यक्त सांस्कृतिक चेतना

डॉ. कृष्ण कुमार झा

मॉरीशस वास्तव में आप्रवासियों का देश है। यूरोप, भारत, चीन, अफ़्रीका, माडागास्कर से आए लोगों के वंशज आज मॉरीशस गणराज्य के स्वतंत्र नागरिक हैं । कई यूरोपीय विजेता उपनिवेशकों के रूप में यहाँ मॉरीशस में शासन करने आए, अफ्रीकी और माडागाशी दास स्वरूप लाए गए, चीनी लोग श्रमिक के रूप में और भारतीय लोग गिरमिटियों के रूप में मॉरीशस आए । सन् 1834 ई. में मॉरीशस आए भारतीय शर्तबन्दी श्रमिकों के पाँच वर्षों के कार्यकाल की अवधि समाप्त होने पर कुछ लोग भारत लौटे थे परंतु अधिकतर लोग यहीं बस गए। इस देश में उपनिवेशी शासन से पूर्व मूल निवासी के रूप में डोडो पक्षी ही अस्तित्व में था । आप्रवासियों को एक सौ सतासी वर्षों के इतिहास और बारह लाख से कुछ अधिक आबादी के अंतर्गत लगभग साठ प्रतिशत जनता की भाषा यहाँ भोजपुरी और हिन्दी है । यहाँ इनकी सफलता की कहानी एक किंवदन्ती बन गई है । इतने समय बाद भी इन आप्रवासी भारतीयों ने अपनी पूर्वजों की मातृभूमि से नाता नहीं तोड़ा है । वे यहाँ अपनी संस्कृति व भाषा को न केवल जीवित रखें हुए हैं बल्कि किसी भी विपरीत परिस्थिति में उसके प्रति उनमें परवान चढ़ाने का जज़्बा कहीं भी कम नहीं हुआ है । अपनी इस भारतीयता एवं सांस्कृतिक विरासत को जीवित रखकर ही ये लोग मॉरीशस में खुशहाल व सम्पन्न जीवन व्यतीत कर रहे हैं।

"जब कोई लेखक साहित्य-सृजन की ओर प्रवृत होता है, तब वह एक ठोस ज़मीन की रचना करता है । एक ही ज़मीन को कथा का मुख्य विषय बनाने से उसके लेखन में दुहराव आता है । इसलिए वे हमेशा एक नई ज़मीन, नए अनुभव की तलाश करते हैं ।"[1] अतः दूसरे देश के लोग जब अपनी ज़मीन के यथार्थ को अपने साहित्य में प्रतिष्ठापित करते हैं, तो इससे साहित्य में विविध छवियाँ उत्पन्न होती हैं । मॉरीशस में हिन्दी कथा-साहित्य लिखनेवाले साहित्यकार भारत देश के आप्रवासी लोग ही हैं । वे भारत से अपनी संस्कृति, अपने संस्कार और भारतीय मानस के साथ मॉरीशस गए थे । इसके साथ ही उनका एक नई ज़मीन के साथ तादात्म्य हुआ है । उनके पास एक नई ज़मीन है, नई ज़मीन की अपनी संस्कृति है, अपने संबंध हैं । लेकिन संस्कार के रूप में, स्मृति के रूप में वे भारत के साथ सम्बद्ध हुए हैं तथा भारत की परंपरागत एवं समकालीन संस्कृति से उनका लगाव है और वे उनसे जुड़े हुए हैं । अतः संस्कार और यथार्थ की टकराहट से जो लिखे जा रहे हैं, उसका अपना महत्त्व है । महत्त्व इस अर्थ में और भी बढ़ जाता है कि वे हिन्दी में लिख रहे हैं, इससे हिन्दी कथा-साहित्य को एक नई ज़मीन, नया रूप और एक नया आयाम मिल रहा है ।

सांस्कृतिक अध्ययन का क्षेत्र अत्यंत व्यापक है। संस्कृति को किसी पारिभाषिक रूप में स्पष्ट नहीं किया जा सकता है क्योंकि संस्कृति कोई स्थिर या जड़ वस्तु नहीं है। इसका स्वरूप सतत्त विकासमान रहा है । विकास अपने आप नहीं होता वरन् विकास परिस्थितियों और मूल्यों की टकराहटों से होता है । उदाहरणतः विश्व की सबसे प्राचीनतम संस्कृति भारतीय संस्कृति तमाम

बाहरी आक्रमणकारियों, लुटेरों आदि के आने, बसने एवं उसके संगम से हुआ है।**'संस्कृति' समाज में बनती है और समाज को बनाती है इसलिए समाज की सारी समस्याएँ, चाहे वह संबंधों की हो, अर्थ की हो, राजनीति की हो, दर्शन की हो, धर्म, नैतिकता या भाषा की हो, इन सबसे अलग नहीं है। 'इस प्रकार संस्कृति जीवन की समग्रता से संबंधित हैं।'**[2] सांस्कृतिक दृष्टि से मॉरीशस के कथा-साहित्य के मूल्यांकन हेतु जीवन, धर्म, अर्थ तथा समाज के उन मूलभूत तथ्यों को उद्घाटित किया जाता है, जो आगत के प्रेरणा-स्त्रोत ही नहीं प्रत्युत अनागत के पथ-प्रदर्शक भी हैं।

'मॉरीशस के हिन्दी कथा-साहित्य में व्यक्त सांस्कृतिक चेतन' मॉरीशस के जन-जीवन से संबंधित कथा-साहित्य (उपन्यास, कहानी) आदि में व्यक्त जीवन-प्रणाली एवं सांस्कृतिक धरोहर की दृष्टि से उल्लेखनीय है। हिन्दी के अन्तर्राष्ट्रीकरण एवं विश्व-साहित्य के महत्त्व प्रतिपादन के संदर्भ में भारतेत्तर हिन्दी साहित्य और साहित्यकारों का योगदान अप्रतिम है। मॉरीशस के हिन्दी कथा-साहित्य निश्चित रूप से हिन्दी साहित्य-क्षितिज को वैश्विक आयाम देने तथा सांस्कृतिक चेतना के रूप में इसका मूल्यांकन धर्म, दर्शन, जाति, भाषा और राष्ट्र के सीमित घेरों से मुक्त मानव को साहित्य के सर्वोपरि साध्य के रूप में प्रतिष्ठित करने और सीमित स्वार्थ-लिप्त राजनीति, हृदयहीन प्रौद्योगिकी, अंधी भीड़ में आसक्त सामाजिकता और मानव को पशु में बदलनेवाले घोर भौतिक सभ्यता के बीच मानव के विकास एवं उत्कर्ष में निश्चित रूप से मॉरीशस के हिन्दी कथा-साहित्य लेखन का महत्त्व अक्षुण्ण है।

मॉरीशस का हिन्दी कथा-साहित्य मूलरूप से भारतीय सांस्कृतिक प्रेरणा से अनुप्राणित है लेकिन कहीं भी वह मॉरीशस की ज़मीन से विस्थापित नहीं दिखता। भारतीय आप्रवासी, जो कुली श्रमिक के रूप में मॉरीशस आए थे, वे कठोर परिश्रम, जीवन झंझावतों के प्रबल झोंके खाते, उत्थान-पतन, उन्नति-अवनति के घात-प्रतिघात, अपने जर्जर शरीर पर सहते, कभी वेग से कभी धीमी चाल से, कभी लड़खड़ाते पैर से, अपने इस कर्म क्षेत्र वसुंधरा को सींचकर पल्लवित एवं पुष्पित किया है। इस टापू को शस्य परिधान से सुसज्जित करने में उनके भारी त्याग, आत्मबलिदान, जीवनोत्सर्ग आदि की गाथा यहाँ के कथा-साहित्य में अंकित हुए हैं।

कथा-साहित्य यहाँ की सबसे विकसित गद्य-विधा है। इसका विकास 1940 से होता है, लेकिन 1960 तक यहाँ की कहानियाँ प्रारम्भिक ही कही जा सकती है क्योंकि कहानी तत्वों की दृष्टि से वे उतनी सशक्त नहीं हैं। वासुदेव विष्णुदयाल एवं जयनारायण रॉय इस काल के प्रमुख लेखक थे। सन् 1940 से भारतीय आप्रवासियों के सांस्कृतिक उत्थान हेतु पूरे मॉरीशस में पंडित वासुदेव विष्णुदयाल ने सामाजिक और सांस्कृतिक आंदोलन शुरू किया और हिंदुओं को संगठित करने के लिए मॉरीशस के कोने-कोने में, सभा, सत्संगों में हिन्दी में भाषण देते थे। 'उन्होंने अपने जीवन में सौ से अधिक पुस्तकें तथा हज़ार से अधिक भाषण दिए थे। भाषणों का विषय हमेशा वेद, गीता, रामायण, महाभारत आदि होते थे।'[3] 'हिन्दी के क्षेत्र में वे हमारे सामने आधुनिक हिन्दी की जीती-जागती मूर्ति थे। उनके हिन्दी के दिए भाषण ने देश के एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक सनसनी पैदा कर दी थी। 'उनको सुन-सुनकर अंग्रेज़ी-फ्रेंच जाननेवाले लोग महसूस करने लगे थे कि हिन्दी जाने बिना उनकी शिक्षा अधूरी है।'[4] प्रो० वासुदेव विष्णुदयाल की हिन्दी-सेवा तथा सांस्कृतिक एवं जनांदोलन की प्रेरणा के प्रभावस्वरूप भारतीय आप्रवासी हिन्दी में कथा-कहानी ज़माना, जनता, आर्योदय आदि पत्रों में छिटपुट लिखने का प्रयास शुरू कर दिए थे। साहित्यिक दृष्टि से इस काल की

कहानियाँ उत्कृष्ट नहीं कही जा सकती है। वास्तव में 1960 से 'पहला कदम' के रूप में मॉरीशस में कथा-साहित्य का स्वर्णिम विकास शुरू होता है। मॉरीशस की हिन्दी कहानियों में जीवन-मूल्य भारतीय संस्कारों से ओतप्रोत हैं। जयनारायण रॉय की दो कहानियाँ 'आनंद की ओर', 'आशीर्वाद' आदि में जाति-पाति की समस्याओं के कारण नायक-नायिका के बीच वैवाहिक समस्याएँ दिखाई गई हैं। वेश्यावृति के प्रति घृणा का भाव 'माथे का टीका (खामोशी के चीत्कार), विगड़ा हुआ यंत्र (स्वर्ग में क्या रखा है) आदि कहानियों में चित्रित हुआ है। एक कदम (रघुनाथ दयाल) और मोड़ (रामदेव धुरंधर) कहानी में नारी के ममतामय एवं मातृत्व रूप प्रधान्य हैं। ए.के.सीस (पुष्पा बुम्मा) और ओवरटाइम (लाल कृष्ण बिहारी) मे नौकरी पेशा नारी के प्रति गलत विश्वास-वोध से जुड़ी कहानियाँ हैं। सामाजिक एवं पारिवारिक संबंधों में दरार को लेकर लिखी कहानियों में 'मोड़' (रामदेव धुरंधर), अनत जी की 'रात की पार्टी के बाद', (खामोशी के चीत्कार) नागदान जी की अनुबंधन (मिनिस्टर) आदि हैं। अनत जी की 'एकलव्य' (इंसान और मशीन) कहानी में अशिक्षित लोगों द्वारा संभावित राजनीतिक कुपरिणामों को दर्शाया गया है। भानुमती नागदान के हड़ताल (मिनिस्टर) में मान्यताएँ हैं कि "स्वार्थ की भी कोई हद होती है यहाँ पर तो स्वार्थ के लिए कितने नौजवानों के भविष्य से खेला जा रहा था। वह फ़रियाद करे तो किससे करें। उसको सारा समाज सड़ा हुआ लगता था।"[5]

गुरुजी (स्वर्ग में क्या रखा है) कहानी में कथा नायक धीरेन्द्र द्वारा अपने देश और संस्कृति के प्रति अपना स्वाभिमान प्रकट किया गया है। "सारा आकाश लहू जैसे रंगों से लाल हो उठा। धू -धू करके मठिया जल रही थी, पल भर में ही गली-गली से झोंपड़ी-झोंपड़ी से भारत माता की जय पुकारते हुए असंख्य गाँव वाले उमड़ पड़े।"[6] 'अस्वीकार' (खामोशी के चीत्कार) में राजनीति और जन-जीवन संबंधी प्रश्नों को उठाया गया है। 'प्रतिफल' (विषमंथन) कहानी में यह चित्रित किया गया है कि नारी के लिए जहाँ धार्मिक संयमित जीवन और सुख-सुविधाएँ चाहिए वहीं दाम्पत्य जीवन का आधार भी उसके लिए आवश्यक है। 'सिंदूर' (मोहनलल बृजमोहन) कहानी में सिंदूर के महत्त्व पर प्रकाश डाला गया है। लाजवंती कहती है– "इस सिंदूर से उनकी पवित्रता जुड़ी हुई है। बता दो इन गोरों को कि जिस औरत के माथे पर सिंदूर है, वह सुहागिन है। उसे ये आँख उठाकर भी नहीं देख सकते।"[7] 'पुनर्जन्म' (वह बीच का आदमी) में हिन्दू संस्कृति की मान्यता पुनर्जन्म के तथ्यों पर प्रकाश डाला गया है। सामयिक बोध की दृष्टि से उधर का रास्ता (धुरंधर), 'हथियार' (दीपचंद बिहारी), 'नया सफर सहने का' (पूजानंद नेमा), 'पागल' (आशा रामफल), 'नई तलाश' (खामोशी के चीत्कार), 'समस्या' (सोनालाल नेमधारी - वसंत चयनिका), 'हाथ-पाँव बिक गए' (सुरभित उधान) आदि कहानियों में बेकारी, महँगाई, अजनवीपन, शोषण और रिश्वत, पर्यटकों के कारण विसंस्कृतिकरण की समस्या, घुड़दौड़ की समस्या रेखांकित हुए हैं।'हवा तीसरी दुनिया' (आस्तानन्द सदासिंह, कामता कमलेश (स०) में मॉरीशसीय समाज में फैल रही, स्वच्छंदता के परिवेश में बढ़ते व्यभिचार और अनैतिक व्यापार के यथार्थ पर व्यंग्य है।

अफसरशाही का चेहरा 'चेहरे' (धुरंधर, वसंत, पृ० १२) में बेनकाब कर दिया गया है। 'अंधेरी सुरंग' (धुरंधर) में युवाओं के मूल्य पश्चिम से प्रभावित दिखाया गया है। 'हिन्दी अध्यापक' (डॉ. बीरसेन जागासिंह) में व्यंग्य शैली में यह कहा गया है कि हिन्दी भाषी लोग ही भारतीयता और हिन्दुत्व के कट्टर शत्रु हैं।'टूटा पहिया'

(अभिमन्यु अनत) में आधुनिकता और मशीनीकरण सभ्यता की कोख से उत्पन्न होनेवाली अमानवीयता का मार्मिक चित्रण हुआ है। सोनालाल नेमधारी की 'पश्चाताप' कहानी में अधुनातन समाज पर फ्रेंच संस्कृति का अशिव प्रभाव को व्यंग्यात्मक रूप में चित्रित किया गया है।

इस प्रकार कहानी साहित्य में कथाकार सम्राट अभिमन्यु अनत, दीपचन्द बिहारी, रामदेव धुरंधर, वीरसेन जागासिंह, भानुमति नागदान, पूजानंद नेमा, सोनालाल नेमधारी, हरीनारायण सीता, मुनीश्वरलाल चिंतामणि, केशवदत्त चिंतामणि, लोचनविदेशी, नारायण देसाई, पुष्पा बुम्मा, इंद्रदेव भोला इंद्रनाथ, श्री जय जीउत, जनार्दन कालीचरण, सत्यवती जगमोहन, साहेबा बीबी फर्जली, महेश रामजियावन, आदि कहानी क्षेत्र में प्रयत्नशील हैं। अतः कहानीकार के रूप में इन लेखकों के पदार्पण से मॉरीशस की कहानियों की मूल-संवेदना सागर पार संप्रेषित हुई है तथा अंतरराष्ट्रीय स्तर पर हिन्दी कथा-साहित्य की उत्कृष्टता परिलक्षित होती हैं।

कुल मिलाकर मॉरीशस की कहानियों में नयापन है, एक आकुलता है, मुक्ति की छटपटाहट है। सीधे-साधे शब्दों में इन कहानियों में रूढ़ियों के प्रति विद्रोह, गले-सड़े को दूर फेंक नए को ग्रहण करने का उतावलापन है। कहीं-कहीं बेबसी और कुंठा के स्वर भी सुनाई पड़ते हैं। सामाजिक एवं आर्थिक असमानता के प्रति असंतोष की तीव्रता भी इन कहानियों में है। लेकिन लगता है कि "कहानीकार अभी स्वतंत्रता की परिभाषा खोज रहा है और वह उस स्वतंत्रता की ओर संकेत कर रहा है, जो आम जनता को राहत पहुँचाए, जिसमें नवजवानों को बेकारी के कारण अपना अस्तित्व ही भार न लगे, जिसमें समाज के पंडे, अपने वुर्जुआपने की धौंस न जमाते हों और जो नव-विकसित मूल्यों की सोंधी-सोंधी सुगंध से सुवासित हो।"[8]

स्वतंत्रता के पाश्चात् मॉरीशस के हिन्दी कथा-साहित्य क्षितिज पर अभिमन्यु अनत एवं रामदेव धुरंधर के पदार्पण से उपन्यास और कहानी दोनों क्षेत्रों में ये कथाकार अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त करते हैं। इन दोनों कथाकारों ने अपने कथा-साहित्य में कथ्य का आधार मॉरीशस की ज़मीन, वहाँ की संस्कृति, जनता की समसयाएँ, समस्याओं के समाधान के उपाय आदि मॉरीशसीय तरीके से दिए हैं।

अभिमन्यु अनत की उपन्यास-यात्रा 'और नदी बहती रही' से शुरू होती है। 'और नदी बहती रही' में युवा-पीढ़ी में त्याग की भावना है जो 'आंदोलन' में बंधनों को तोड़ता नज़र आता है। प्रेम-विवाह में अन्तर्जातीय असमानता एवं अस्वीकृति के कारण युवा पीढ़ी आंदोलन करता है। प्रेम ही एक ऐसा साधन है जो इस आंदोलन को पराजित करता है। 'एक विघा प्यार' प्रेम पर आधारित उपन्यास है जिसमें यह दर्शाया गया है कि प्रेम ही परिवार है, समाज एवं देश में 'फैली विषमताओं को पाटता है। 'जम गया सूरज' में वर्ग-वैषम्य, प्रेम और परिवार के साथ-साथ राजनीति का विभाजक रूप भी चित्रित है। 'तीसरे किनारे' पर धनी वर्ग के जीवन-व्यवहार तथा आज की पीढ़ी के जीवनगत मूल्यों के टूटन की ओर संकेत किया गया है। 'चौथी प्राणी' में दो प्रेम-कथाओं से जहाँ उसकी उदात्तता एवं उच्छृंखलता को व्यक्त किया गया है वहीं 'तपती दोपहरी' प्रेम के चतुष्कोण से प्रेमगत विविध समस्याओं को बारीकी से चित्रित करता है। इससे मॉरीशस के शोषित गाँववासियों के विसंस्कृतिकरण का भी चित्रण हुआ है।

'लाल पसीना' मॉरीशस की कई पीढ़ियों का जहाँ दर्दनाक इतिहास प्रस्तुत करती है, वहीं 'शेफाली' वेश्या-जीवन की मार्मिक कहानी कहती है। 'कुहासे का दायरा' में अध्यापक धनेश का

संघर्ष राजनीतिक व्यवस्था के खिलाफ होता है, लेकिन वह असफल होता है, जबकि 'हड़ताल कल होगी' में मज़दूरों द्वारा अपने अधिकार के लिए हड़ताल करते हुए चित्रित किया गया है । इसी प्रकार 'चुन-चुन-चुनाव' भी राजनीतिक रंग में रंगे वातावरण में नेताओं और प्रशंसकों के कुचक्र में फँसे एक संपादक की गाथा है ।'अपनी-अपनी सीमा' में कारखानों में कार्यरत स्त्रियों के जीवन एवं समस्याओं का सजीव अंकन किया गया है । 'अपनी ही तलाश' की उनमुक्ता कुछ सीमा तक अश्लील जरूर दिखता है, लेकिन अनत जी ने इसे मनोवैज्ञानिक स्वरूप प्रदान किया है ।'गांधी जी बोले थे' की तिथियाँ कहीं-कहीं ऐतिहासिक भ्रम पैदा करती है, लेकिन कथ्य एवं तथ्य सत्य प्रतीत होते हैं। 'मुड़िया पहाड़ बोल उठा' में औद्योगीकरण के फलस्वरूप कारखानों में कार्यरत महिलाओं के शोषण एवं पारिवारिक विघटन जैसी समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है । 'मार्क-ट्वेन का स्वर्ग' द्वारा सामाजिक-सांस्कृतिक संघर्ष की चरम सीमा भी उजागर होती है "इस देश को धरती बना लेनेवाला हर व्यक्ति किसी दूसरे देश से यहाँ पहुँचा है । कोई भारत से आया है, कोई चीन से, कोई अफ़्रीका से, कोई फ़्रांस से । सबकी संस्कृति को फूलने-फलने का समान अधिकार होना चाहिए, किन्तु चाहे तो एक संस्कृति दूसरी संस्कृति पर हावी है ।.. दूसरी ओर से हमारी सांस्कृतिक जीवन-मूल्यों को आज तक नकारा जा रहा है । अब तो सांस्कृतिक साम्राज्यवाद में हम जी रहे हैं।"[9] 'अचित्रित' में वेश्या-व्यवसाय, नैतिकता-अनैतिकता का प्रश्न, 'लहरों की बेटी' में आंचलिक जीवन से संबंधित चित्रण में मृदुल के जीने की कहानी प्रस्तुत हुई है । 'घर लौट चलो वैशाली' में अन्तर्जातीय एवं अंतरधर्मीय विवाह की समस्याओं एवं दुष्परिणामों को देखा जा सकता है । 'चलती रहो अनुपमा' में 'अनुपमा' के जीवन से नारी शक्ति, धैर्य, प्रेम करुणा का प्रतीक-बोध प्रस्तुत होता है तथा साथ ही जीवन जीने के प्रति आस्था-विश्वास में चरैवेति जीवन दर्शन प्रस्तुत हुआ है। "तुम्हारा रास्ता लंबा है, कठिन है, फिर भी चलती रहो। चलती रहो अनुपमा। मंज़िल तुम्हें मिलकर रहेगी।"[10]

दूसरे महत्त्वपूर्ण कथाकार रामदेव धुरंधर रचित उपन्यास 'चेहरों का आदमी' का कथ्य पारिवारिक एवं राजनीतिक घटनाओं पर आधारित है । रामफल का परिवार दु:खी है, दु:ख का कारण वह अपने कर्मों को ठहरता है, लेकिन सुख के क्षण में राजनीतिक भेड़िये राउत उसे अपनी उपलब्धि मानते हैं । 'छोटी मछली बड़ी मछली' सामाजिक-राजनीतिक उपन्यास है जो कथा-नायिका विनोदा के इर्द-गिर्द मंडराती है । पाश्चात्य रंग में रंगी विनोदा अपनी राजनीतिक महत्त्वकांक्षा के कारण, परिवार, पार्टी, आदर्श और मर्यादा सभी दाव पर लगाती है जिसकी परिणति आत्म हत्या में होती है । 'पूछो इस माटी से' में आप्रवासियों के दुख-दर्द के इतिहास की गाथा से लेकर आधुनिक मॉरीशस के विविध सत्य को रूपायित किया गया है । उपन्यास का नायक कासी का कथन कि "मैं उन लोगों को भटकने नहीं देना चाहता हूँ। यहाँ कितनी ही बार हमारा धर्म परिवर्तन के लिए पादरी आया है । पर्व के नाम लेकर ही मैंने लोगों को पराए धर्म में दीक्षा लेने से बचाया है।"[11] कहीं-न-कहीं आज भी हमारे पर्व-त्योहार हमारी सांस्कृतिक विरासत को मॉरीशस में सुरक्षित बनाए रखने में सहायक हैं ।

दीपचन्द बिहारी के उपन्यास 'मसीहे नरक जीते हैं' में कैलास के माध्यम से यह बताया गया है कि चारित्रिक दुर्बलताओं के कारण व्यक्तित्व में निखार एवं सामाजिक उच्चादर्शों को प्राप्त नहीं किया जा सकता है । विष्णुदत्त मधु के 'फट गई धरती' में प्रेम और समाज-सेवा के प्रसंगों को कथा-नायक आनंद के जीवन में विभिन्न घटनात्मक प्रसंगों में दिखाया गया है। आस्तानन्द

सदासिंह का उपन्यास 'मांस भक्षी' नायक-नायिका के वासना-विलासमय जीवन से संबंधित है। वहीं हीरालाल लिलाधर की 'सगाई' वासनात्मक प्रेम के स्थान पर आदर्श प्रेम के महत्त्व को प्रस्तुत करता है । आनंद दबी का 'कसूर किसका' में मॉरीशस के हिंदुओं में भारतीय संस्कृति को सुरक्षित रखने की भावना प्रकट हुई है। हिन्दू-विवाह रीति के प्रति आस्था विद्यमान है। "मैं लाल साड़ी में सजकर हाथों में लोटे का जल लिए उनके सामने गई, डर के मारे शीत ऋतु की भांति काँप रही थी।"[12]

जीवन-संघर्ष एवं अन्याय से लड़ने, जूझने एवं विजय दिलाने में भारतीय संस्कृति के मूल मंत्र 'रामायण', 'हनुमान चालीसा' का गायन एवं पाठ ही उनकी कठिनाइयों में सहायक मंत्र सिद्ध हुए थे। जमींदारी ताकत के सभी प्रलोभनों, पाबंदियों और प्रतिबंधों के बावजूद वे मजदूर कोड़ों और बाँसों की बौछार को सहकर भी चोरी-चोरी अपनी भाषा-संस्कृति और धर्म से जुड़े रहे। अंग्रेज़ एवं फ्रेंच लोग दबाव एवं धन-प्रलोभनों द्वारा हिन्दू-धर्म के प्रति आस्था रखने वाले लोगों को ईसाई धर्म में परिवर्तित करने के लिए प्रोत्साहित करते थे । उनमें से कितनों से यह कहा गया कि समुद्र पार आकार अपनी परंपरा के साथ उनके रिश्ते सदा सर्वदा के लिए टूट गए हैं । फिर भी उनके हृदय निष्ठावान रहे। कुछ आप्रवासी भारतीयों ने यह समझते हुए कि उनके विश्वास की मशाल बुझ जाने से उनपर जो कहर टूटेगी, सरकारी पदों से इस्तीफा दे दिया तथा मॉरीशस में गिरमिटिया मज़दूर हो गए । कुदाली और फाबड़े से दिन भर काम करते थे । इससे उनके शारीरिक कष्टों के साथ-साथ उनके मानसिक कष्टों का भी अनुमान किया जा सकता है और फिर देर गए रात से भोर होने से पहले तक उनके दिए जलते देखे जा सकते थे । प्रार्थना करती, पढ़ाती और सांत्वना देती उनकी आवाज़ें सुनी जा सकती थी और इस प्रकार वे अपने विश्वास की ज्योति जलाए रखने में समर्थ होते हैं ।"[13]

भारतीय संस्कृति केवल मॉरीशस के घरों की चहारदीवारियों तक ही सीमित नहीं है, बल्कि पूरे जीवन प्रणाली में रची-बसी है । चाहे गोद भराई के मौके की रस्म हो या चाहे बच्चे के जन्म पर नामकरण के साथ सोहर और ललना गाने का प्रचलन हो या जनेउ संस्कार या गृह प्रवेश हो या अंतिम यात्रा का क्षण हो, सभी भारतीय संस्कारों का पालन करते हैं । विवाह चाहे कितने ही आधुनिक ढंग से क्यों न हो, लेकिन विवाह मंडप, हवन कुंड, वैदिक मंत्रोच्चारण, हल्दी लगाने की विधि एवं इस अवसर पर लोक-गायन होता है। "वर्षा के घरवालों तथा सभी जाने-पहचाने, शादी-शुदा लोगों ने बारी-बारी, हल्दी लगाई । पंडित मंत्रों का उच्चारण माइक द्वारा बड़ी ऊंची आवाज़ में करता रहा । एक तरफ से हल्दी के अवसर पर गाए जाने वाले गीत बूढ़ी-बूढ़ी औरतों की मंदी आवाज़ों में सुनाई देते थे।"[14] तथा इस अवसर पर दिए जाने वाले भोज भी केले के पत्तों पर पूड़ियों और साग-सब्जियों के ही होते हैं । शादी-विवाह के दौरान पास-पड़ोस के लोगों का सहयोग भी भारतीय संस्कृति के धरोहर ही है । लेकिन यहाँ विवाह का कार्यक्रम मूलतः शुक्रवार को शुरू होता है और सोमवार को समाप्त हो जाता है ।

नव वर्ष, संक्रांति और व्रत-त्योहार भी लोग धूमधाम से मनाते हैं, जिसमें विजयादशी, दिवाली, अनंतव्रत, शिवरात्रि तथा होली यहाँ विशेष महत्व का होता है। तमिल लोग कावड़ी की पूजा बड़े धूमधाम से करते हैं । महाशिवरात्रि के अवसर पर गंगातालाब पर पूरे देश से जो यात्री पहुँचते हैं उनकी संख्या देश की आधी आबादी से अधिक होती हैं जिनमें प्रायः युवक सफ़ेद धोती-कुर्ता और युवतियाँ साड़ियों में होती हैं । एक अन्य त्योहार गंगा-स्नान के अवसर पर कोई सौ समुद्र

तटों पर जिसे उस दिन गंगा का स्वरूप माना जाता है, पूरा मॉरीशस उमड़ पड़ता है – गंगा-मैया को पियरी चढ़ाने के लिए। लेकिन आज यह गंगा-स्नान पिकनिक का रूप लेता जा रहा है । यहाँ के अतिथि-सत्कार तथा विभिन्न धर्मों के बीच सांप्रदायिक सद्भावना एवं प्रेम आदि यहाँ के कथा-साहित्य में उजागर हुए हैं। लेकिन आज स्थिति परिवर्तित होती नज़र आती है। सांस्कृतिक एवं धार्मिक परंपराओं के अंतर्गत भारतीय संस्कृति लड़खड़ा रही है । इसके पीछे मूल कारण जहां फ़्रांस-सरकार फ्रेंच संस्कृति के प्रोत्साहन के लिए सब कुछ करने के लिए कृत्तसंकल्प है वहीं भारत-सरकार द्वारा यहाँ के हिन्दू संस्थानों के प्रति उदासीनता की भावना देखी जा सकती है । "मॉरीशस और भारत का असली संबंध तो सांस्कृतिक रिश्ते का रहा है, पर राजनैतिक रिश्ते बनाते-बनाते यह सांस्कृतिक रिश्ता अब लड़खड़ाने लगा है।"[15]

समय के साथ ही अब धीरे-धीरे ऊँच-नीच, भेद-भाव एवं जातीयता की भावना से समाज में एक विलगाव की स्थिति आ गई है। हिन्दू-'तमिल', 'गुजराती', 'मराठी', 'भोजपुरी' आदि में विभक्त हो रहे हैं। मुसलमान एवं हिंदुओं में विभेदीकरण की नीति अपनाई जा रही है। मॉरीशस के कथा-साहित्य में इस सामाजिक एवं सांस्कृतिक वैशिष्ट्य को सहज ही देखा जा सकता है । प्रायः सभी कथाकारों ने यहाँ के इतिहास से प्रभावित एवं प्रेरित होकर मॉरीशस की संस्कृति के अंतर्गत धर्म, समाज, इतिहास, अर्थ एवं भौगोलिक परिवेश को अपने साहित्य का वर्ण्य विषय बनाया है तथा साथ-ही-साथ वे स्वतंत्र देश में बेहतर समाज, एक बेहतर व्यवस्था एवं समतामूलक जीवन-मूल्यों की स्थापना के लिए सतत प्रयत्नशील हैं ।

मॉरीशस का कथा-साहित्य जहां एक ओर भारतीय परंपरा एवं मूल्यों से प्रतिष्ठापित है, वहीं इसके अंतर्गत आधुनिक संस्कृति की सहजाभिव्यक्ति भी होती है । इसलिए यहाँ के कथा-साहित्य में जीव-जगत और माया का दार्शनिक विश्लेषण नहीं दिखता है, क्योंकि यहाँ के हिन्दू आधुनिक अवधारणाओं से भी प्रभावित हैं, इसलिए मानव की नियति कर्मवाद एवं उसके सिद्धांत पर आधारित दिखता है तथा समाज में अस्तित्वाद का प्रभाव भी दिखाई पड़ता है । मसलन अनत जी का 'एक बीघा प्यार' उपन्यास में हीरा अपाहिज है, किन्तु अपनी माँ से कहता है – 'माँ तकदीर ने मुझे अपाहिज बना दिया तो इसका यह मतलब नहीं कि इस बात के लिए मैं अपनी तकदीर को कोसता रहूँ । इस बैसाखी के सहारे जीने का तो यही मतलब होगा, मैं अपने भाग्य से लड़ना चाहता हूँ, माँ मुझे लकड़ी के इस अवलंब की कोई आवश्यकता नहीं । मैं सभी लोगों की तरह जीना चाहता हूँ, अपने खुद के पैरों पर खड़े होकर।'[16]

विज्ञान-जन्य नवीन दृष्टि, औद्योगिकता, अन्तर्राष्ट्रीयता के भाव के प्रसार के कारण मॉरीशस के कथा-साहित्य में परंपरागत जीवन-मूल्यों की जगह नवीन जीवन-दृष्टि दिखाई पड़ती है। आज समाज में श्लील-अश्लील के प्रश्न विशेष महत्त्व के नहीं रह गए हैं । समाज में यौन-प्रवृत्ति की नैतिकता को मानव की स्वाभाविक प्रवृत्ति माना जाने लगा है । प्रेम के नैतिक बंधन को अस्वीकार कर उसे स्त्री-पुरुष के संबंधों में स्वाभाविक ऊर्जा का स्त्रोत माना गया है। वैयक्तिक स्वातंत्र्य आज के युग का नवीन मूल्य बन गया है । भाषा, धर्म तथा संस्कृति मानवता के मापदंड न रहकर राजनीतिक मोहरे बनते जा रहे हैं। अभिमन्यु अनत के कथन से इसे समझा जा सकता है – "डेढ़ सौ साल से हिन्दी इस धरती की सांस्कृतिक गतिविधियों और विकास की भाषा रही है लेकिन आज सरकार की ढुल-मुल नीति के कारण यह हमारे लिए पारस्परिक वैमनस्य की

भाषा बन गई है।

मॉरीशस के हिन्दी कथाकारों ने समाज में आर्थिक विपन्नता एवं दुरावस्था के मूल कारण गुलामी और गोरों के अनाचार के अतिरिक्त औद्योगीकरण को भी इसका मुख्य कारण स्वीकार किया है। पर्यटन उद्योगों को मॉरीशस में बढ़ावा मिलने के कारण जिस प्रकार का सांस्कृतिक अपघात समाज में हो रहा है उसका चित्रण 'नई तलाश' कहानी में बखूबी से हुआ है। पर्यटकों के लिए लड़कियों की सप्लाई, शराब का निर्बाध उपयोग तथा समुद्र-तटों की ज़मीन का हॉटेलों में परिवर्तन एवं समुद्र-तटों पर नंगे-अधनंगे पर्यटकों की विलास क्रीडा जिस तरह से बढ़ रही है, वह संस्कृति के नैतिक मूल्यों के लिए जानलेवा सिद्ध हो रही है। इस भोगवादी संस्कृति के दबाव के कारण वह ग्राम्य संस्कृति नष्ट हो रही है, जिसमें मानवीय संबंधों की तमाम विशिष्टताओं- निश्छलता, अपनापन, मित्रता, भोलापन एवं सेवा-सत्कार आदि भावनाएँ विद्यमान हैं। अनेक कथाकारों ने अपने साहित्य में इसके भयावह परिणाम को व्यक्त किया है। इसके अतिरिक्त पश्चिमी सभ्यता के केंद्र में मशीनी सभ्यता से उत्पन्न 'अर्थ' ने कैसे मानव जीवन को मूल्यहीन, आस्थाहीन और आत्मकेंद्रित बना दिया है, इन सबका चित्रण एवं प्रभाव-अंकन मॉरीशस के कथा-साहित्य में स्पष्ट रूप से हुआ है, इसलिए 'नींद के बाद' कहानी का नायक सोचता है कि खेती का काम ज़्यादा अच्छा है, क्योंकि उसमें आदमी अपनी मेहनत से अपने लिए कमाता है, किसी की गुलामी तो नहीं करता।

आज मॉरीशस समाज में लोक संस्कृति की बजाय लोकोत्तर संस्कृति का ज़हर फैल रहा है। औपनिवेशिक मानसिकता ने जिस भोगवादी संस्कृति को पनपने का अवसर दिया है, उससे युवा वर्ग को सबसे अधिक क्षति पहुंची है। इसके फलस्वरूप विकास की अंधी चाल, एवं अर्थोपार्जन की लोलुप प्रवृति से समाज का नैतिक पतन, कोरे आश्वासन की संस्कृति, आधुनिक नारी की मानसिकता, अजनवीपन, आधुनिक खोखलापन आदि उत्पन्न हुए हैं।

अपसंस्कृति की यह समस्या काफी विकराल एवं विध्वंसक है। आधुनिकता के फैशन में रंगी वर्त्तमान नारी की चिंतनीय दशा को समझा जा सकता है। "हमारा विवाह विधिपूर्वक हुआ, फिर भी अपवित्र है, क्योंकि उसमे हमारी भावी संतान ने भी भाग लिया है।"[17]

विसंस्कृतिकरण की चिंता से उपन्यास का नायक धनेश चिंतित है। "जिस ढंग से हमारा विसंस्कृतिकरण आज हो रहा है, जिस ढंग से हम बहकावे में आकार अपनी संस्कृति, अपनी भाषा को नकार रहे हैं, उससे बहुत कुछ हो सकता है, लेकिन सबसे बड़ा अनर्थ तो यही होगा कि लोग हमारी शक्ति को क्षीण कर देंगे।"[18] अतः इस अपसंस्कृति के समाधान के लिए भारतीय संस्कृति ही आशा की एक मात्र किरण है, क्योंकि इसी में सांस्कृतिक नवोत्थान के सारे आधारभूत तत्व विद्यमान हैं, जो परंपराओं तथा आधुनिकता के बीच गत्यात्मक संबंधों के मूल्यांकन को प्रोत्साहित कर सके। इसमें भाव है, भाषा है, संप्रेषण के सहज माध्यम है। विकृति के उन्मूलन एवं संस्कृति को स्थापित करने का अजस्र प्राण है। यांत्रिक विश्व में शक्ति की होड़, निर्जीविता एवं भोगवादिता के विरोध में भारतीय संस्कृति मूल्यवादी एवं सजीव है। यही भौतिकतावाद और भोगवाद की दिशा मोड़कर इस यंत्रयुग में मानव को अवमूल्यित होने से बचा सकती है।

"संस्कृति की नीलामी करनेवाले को दयनीयता से मरते देखा जा सकता है, परंतु संस्कृति पर मिटने वाले को कभी रोटी का मोहताज होकर मरते नहीं देखा गया है। मॉरीशस में कुछ ऐसे लोग अवश्य हैं जो विसंस्कृतिकरण को फैशन समझकर उसमें अपने

को रंग लेते हैं और उसे समय की धार मानकर उसमें मरी हुई मछली की तरह बहने लगते हैं। ऐसे बहुत ही कम लोग हैं जो सोचते हैं कि संस्कृति एक कुआँ है और डरते हैं कि उसमें डुबकी लगाने का मतलब होगा उसमें डूब मरना। मॉरीशस में जो लोग संस्कृति को कुआँ नहीं सरोवर मानकर चलते हैं, उन्हें विश्वास हैं कि डुबकी लगाने का मतलब है कि मुट्ठी में मानवहित के लिए नए मंत्र की सिपी लिए ऊपर आना।"[19] इसलिए मॉरीशस में परंपरा और आधुनिकता एक-दूसरे के पूरक भी हैं और पर्याय भी और इस एकात्मकता को 'कथा-साहित्य' के अवगाहन से एवं द्वीप में पहुंचकर ही समझा जा सकता है।

'मॉरीशस के कथाकार कहीं-कहीं शिल्प तकनीक के प्रयोग से कथा-साहित्य में अपनी मौलिकता तथा अपनी धरती की सौंधी सुगंध को परिव्याप्त किए हुए हैं। फ्रेंच (एस के सों एता एग्रावे)[20], अंग्रेज़ी (अस्पताल के बाहर साइलेंस का वार्ड था, मगर हाल में शोर ही शोर था। लैव रिकार्ड के पास दो-चार क्यू लगे हुए थे)[21], 'क्रियोली और भोजपुरी' (चल अयले बेटी, आज देरी हो गल, बिस नई मिलता क्या)[22] के शब्दों से मॉरीशस का हिन्दी कथा-साहित्य आप्लावित है। विशेष रूप से मॉरीशस का हिन्दी कथा-साहित्य भोजपुरी की शब्द-संपदा तथा वाक्य प्रयोग से परिपूर्ण है। अपनी मॉरीशसीय हिन्दी की पहचान को बनाए रखते हुए भी इन कथाकारों ने हिन्दी-जगत को भाषा प्रयोग एवं नवीन शब्द-संपदा की दृष्टि से कुछ मौलिक प्रयोग दिए हैं। अतः विशिष्ट शब्द के प्रयोग से वहाँ की सामाजिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि की जानकारी प्राप्त हो जाती है।

संवाद शैली की स्वाभाविकता एवं सहजता यहाँ के परिवेश एवं सामाजिक-सांस्कृतिक वैविध्य को उजागर करने में सक्षम है।'तीसरे किनारे पर' उपन्यास में बड़े साहस एवं दृढ़ता के साथ युवा-आंदोलन के स्वर को उचित और समय की माँग के अनुरूप बताया गया है। उपन्यास के पात्र मिस्टर सामयूएल के शब्दों में – "युवा-पीढ़ी असंसतुष्ट है-सरकार से, समाज से, अपने घर के माहौल से, धर्म से। वह असंतुष्ट है अपने सामने की हर चीज़ से, अराजकता और भाई-भतीजावाद से, राजनीति की नपुंसकता और समाज की नामर्दी से। उसे कपट और छल से घृणा है। आज की युवा-पीढ़ी..वह एक आंदोलन है एवं क्रांति है। इसको नकारा जाना एक बहुत बड़ी सच्चाई को नकारना होगा। यही आंदोलन अवसर की माँग कर रहा है। यह एक नई सभ्यता है, एक नया धर्म है, एक नई संस्कृति है.. आज के इस प्रगतिवादी युग में धनी देश धनी होता जा रहा है। कुछ ऐसे लोग समृद्ध होते जा रहे हैं जो कल सारी दुनिया को अपनी मुट्ठी में कसकर निचोड़ सकते हैं। .. युवा-आंदोलन एक सक्रिय आंदोलन है। यह मानवता का स्वर है। यह जिस अधिकार, न्याय और स्वतंत्रता की माँग कर रहा है, वह केवल राजनीतिक नहीं, बल्कि अपने असली मायने में वह अधिकार, न्याय और स्वतंत्रता है।"[23] सही मायने में यह युवा-आंदोलन-स्वर ही मॉरीशस की सांस्कृतिक चेतन का संवाहक है, जो व्यक्ति, समाज एवं देश को अधिकार, न्याय और स्वतंत्रता से सुशोभित कर सकता है।

समग्र रूपेण कहा जा सकता है कि संप्रति मॉरीशस के हिन्दी कथा-साहित्य भारत और मॉरीशस के भावात्मक, साहित्यिक एवं सांस्कृतिक सेतु के रूप में प्रस्तुत हुआ है। साथ ही यहाँ के कथा-साहित्य में चित्रित मॉरीशस की सांस्कृतिक परिस्थितियों एवं जनजीवन की गतिविधियों का इस रूप में भी महत्व है कि इनमें मॉरीशस का इतिहास छिपा हुआ है। अतः यहाँ के कथा-साहित्य को मॉरीशस के एक ऐतिहासिक दस्तावेज़ के रूप में भी महत्वपूर्ण माना जा सकता है। इस प्रकार मॉरीशस का हिन्दी कथा-साहित्य

विदेशी परिवेश में भारतीय संस्कृति के रंग में रंगा हिन्दी साहित्य-संपदा का अभिन्न अंग साबित होता है

सन्दर्भ सूची

1. प्रो. रामदरश मिश्र से बातचीत, नई दिल्ली, जनवरी, 2000
2. यशदेव शल्य, संस्कृति कर्त्तव्य की व्याख्या, हिन्दी सूचना केंद्र , राजस्थान वि० जयपुर, सं० 1969, पृष्ठ 2
3. रामनाथ जीता, कुछ अविस्मरणीय स्मृतियाँ (लेख), पंकज, अगस्त, 2001
4. एक मॉरीशसवासी की हिन्दी यात्रा, सोमदत बखोरी, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1981, पृष्ठ 13
5. भानुमति नागदान, वसंत,1993, पृष्ठ 16
6. दीपचंद बिहारी, स्वर्ग में क्या रखा, अक्षर प्रकाशन, दिल्ली, 1978, पृष्ठ 50
7. राजेंद्र अरुण (सं०), मॉरीशस की कहानियाँ, भुवन सिवर्स ट्रस्ट, दिल्ली, 1986, पृष्ठ 90
8. गंगादत शर्मा, मॉरीशस में हिन्दी नवलेखन (लेख), शिवरात्री पत्रिका, पृष्ठ 23
9. अभिमन्यु अनत, मार्क ट्वेन का स्वर्ग, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली 1987, पृष्ठ 172 -173
10. अभिमन्यु अनत, चलती रहो अनुपमा, किताब घर, नई दिल्ली, 1998, पृष्ठ 338-339
11. रामदेव धुरंधर, पूछो इस माटी से, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1983, पृष्ठ 126
12. आनंद दबी, कसूर किसका, सस्ता साहित्य प्रकाशन, नई दिल्ली, 1985, पृष्ठ 142
13. जॉन डे लिंगन, इंडियन सैंटिनरी बुक, दि मैकमिलन कं० दिल्ली,1935, पृष्ठ 20
14. आनंद दबी, कसूर किसका, सत्साहित्य प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र० सं० 1986, पृष्ठ 142
15. अभिमन्यु अनत, धर्मयुग, 31 मई, 1986
16. अभिमन्यु अनत, एक बीघा प्यार, राजकमल प्रकाशन, 1973, पृष्ठ 121
17. अभिमन्यु अनत (सं०), मॉरीशस की हिन्दी कहानियाँ, महात्मा गाँधी संस्थान, 1976, पृष्ठ 73
18. अभिमन्यु अनत, कुहासे का दायरा, राजपाल एंड सन्स, दिल्ली, 1978, पृष्ठ 68
19. अभिमन्यु अनत, 5 दिसंबर 1994 को के.के. बिड़ला फाउंडेशन द्वारा आयोजित व्याख्यान माला, मॉरीशस में भारतीय संस्कृति और उसको घेरे चुनौतियों से उद्धृत
20. अनत, शेफाली, राजपाल एंड सन्स, दिल्ली, 1979 , पृष्ठ 51
21. भानुमति नागदान, मिनिस्टर, विद्या प्रकाशन, नई दिल्ली, 1981, पृष्ठ 51
22. अभिमन्यु अनत, वसंत चयनिका, महात्मा गाँधी संस्थान, 1993, पृष्ठ 34
23. अभिमन्यु अनत, तीसरे किनारे पर, ने० पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1976, पृष्ठ 229-232

वरिष्ठ प्रवक्ता एवं अध्यक्ष,
सृजनात्मक लेखन एवं प्रकाशन विभाग,
महात्मा गांधी संस्थान,
मॉरीशस

7

अर्थवत्ता खोते समय–समाज–संबंध–सैद्धांतिकी की यथा–कथा

डॉ. आनंद पाटील

आलेख का सार :

कथ्य एवं शिल्प की दृष्टि से लोककथा का अस्तित्व पीढ़ी–दर–पीढ़ी अक्षुण्ण रहा है। स्वयं प्रकाश के लोककथा–शिल्प में अन्तर्निहित भावबोधात्मक शक्ति पाठक (श्रोता) के मन–मस्तिष्क को आलोकित करती है। उन्होंने लोककथाओं के विस्तृत कथ्य में आधुनिक जीवन की विसंगतियों के साथ–साथ पारिस्थितिकी एवं समसामयिक संदर्भों को रेखांकित करते हुए अर्थवत्ता खोते समाज एवं जर्जर–पंजर होते मानवीय संबंधों का सूक्ष्म अन्वेषण एवं अनुशीलन किया है। लोककथाओं में मानसिक स्थितियों की कसमसाहट पूरी गहनता के साथ अंकित है। कथाओं के केन्द्र में व्यक्ति, जीवन–संबंध, परिस्थिति, पारिस्थितिकी, परिवेश एवं लोक–जीवन में अंतर्व्याप्त भावना का सुदीर्घ विस्तार है। लोक के अस्तित्व को लोककथा के कथ्य–शिल्प में पुनरुज्जीवन प्राप्त हुआ है।

बीज शब्द :

पारिस्थितिकी, समतामूलक समाज, अपनत्व, स्वाभाविक सरलता, सामाजिक स्वास्थ्य, वैचारिक अंधानुकरण, पारिस्थितिक असंतुलन, कालबाह्य, सर्वजनहित

बाज़ारवाद के इस समय में जीवन, कला एवं साहित्य में प्रतिदिन, प्रति क्षण नवनवीन 'मॉडल' (प्रतिमान) का आविष्कार (सृजन) हो रहा है और सोशल नेटवर्किंग पर कुछ हद तक उसकी 'नवीनता' चर्चा का केन्द्र बन रही है। परंतु ध्यातव्य है कि वह नवीनता धीरे–धीरे अपनी निरंतरता और अर्थवत्ता खो देती है। हर अगले क्षण उससे उत्कृष्ट नवीन मॉडल अपने नवीन फिगर (रूप–संरचना) एवं फीचर (वैशिष्ट्य) के साथ उपस्थित होता है। लाज़िमी है कि नवीन रूप–संरचना और वैशिष्ट्य की उपलब्धता से पुराने का अस्तित्व गौण हो जाता है। बावजूद इसके 'ओल्ड इज़ गोल्ड' कहा जाता है। इसके अनेकानेक कारण हैं। वर्तमान समय में किसी भी व्यक्ति के पास अपने (स्व) से इतर 'दूसरे' (अन्य/औरों) को सुनने–समझने का समय नहीं है। हरकोई अपनी बातों की रट लगाए हुए है। अध्ययनशीलता दिन–प्रतिदिन कम होती जा रही है। हम अध्ययन की तुलना में आत्ममुग्धता (मोह) को अधिक जी रहे हैं। चित्र–विचित्र चित्र (क़िस्म–क़िस्म के) धड़ल्ले से सोशल मीडिया के माध्यम से साझा किये जा रहे हैं। वास्तव में पहले तो सभी इस विचित्र समय और परिवेश (परिस्थिति) में जीने के लिए अभिशप्त थे, अब इसके आदी भी हो गए (रहे) हैं। ऐसा लगता है – हरकोई अपने आप में 'परिपूर्ण' है और 'संतृप्त' भी। परंतु विडंबना यह है कि जीवन में एक 'खालीपन' (रिक्तता) उत्पन्न हो गया है, जो गाहे–बगाहे मिट्टी की परतों के नीचे से सिर निकालते अंकुर की तरह खुल कर ऊपर दिख जाता है और इसी में दिख जाती हैं सुलगते–उलझते–मुरझाते जीवन की एक झाँकियाँ। जीवन में उत्पन्न यह खालीपन–उलझनें–बिखराव 'साहित्यिक कलाबाजियों' में

ख़ूब रूपांकित हो (होता) रहा है परंतु ऐसे साहित्य की पठनीयता (विश्वसनीयता?) धीरे–धीरे ख़त्म होती जाती (जा रही) है। गहराई से जानें–समझें–मानें तो यह इस सदी का सबसे महत्वपूर्ण 'बदलाव' है।

गोकि प्रत्येक व्यक्ति के पास प्रत्येक प्रश्न का उत्तर (सूचनात्मक और मनमाना?) है। परंतु अपने जीवन का उत्तर (अर्थ) खोजने में वह असमर्थ है। हम एक साथ कई जीवन जी रहे हैं। जिसे हम 'अपनी जिनगी' कह रहे हैं, वास्तव में वह 'अपनी' तो रही ही नहीं। उस पर समतामूलक सैद्धांतिक के साथ–साथ बाज़ारवादी सोच, ग्लैमर जगत की चकाचौंध और भावातिरेकी आकांक्षाओं ने लंबे समय से कब्ज़ा कर लिया है। यह द्वंद्वात्मकता है कि हमें 'समता' भी चाहिए और सबकुछ भी। हम हर तरह से 'अपडेटेड' (अद्यतन) रहना चाहते हैं। अर्थात् 'अपडेट का सम्मोहन' हमसे छूटता नहीं अपितु कचोटता रहता है। मन इस क़दर उचाट रहता है कि प्रत्येक क्षण एक–एक सदी–सा बीतता है और व्यक्ति बीते हुए समय के कटघरे में खड़ा अपनी आप बीती बारंबार हलफ़नामे की तरह पढ़ता जाता है। सब भलीभाँति जानते–समझते हैं कि हलफ़नामा सुनने वाला व्यक्ति आवश्यक नहीं कि उससे पूरी तरह जुड़े ही। न ही उसमें श्रोता को जोड़े रखने की शक्ति ही होती है। परंतु यदि साहित्य भी हलफ़नामा बनने लग जाए, तब समझ लेना चाहिए कि मामला बहुत गंभीर है।

प्रायः सुनते–पढ़ते–कहते रहे हैं कि साहित्य में 'सर्व जनहित' की सोद्देश्य कामना होती है। साहित्य की यही उद्देश्यपरकता पाठक की रचना के साथ संसक्ति (जुड़ाव) को निर्धारित करती है। हम चाहे जितने आधुनिक–उत्तर–आधुनिक (?) हो जाएँ, हमारे पुराने अपने शब्दों में जो गरिमा एवं अपनत्व है, वह चलताऊ क़िस्म के शब्दों के प्रयोग से भरी नहीं जा सकती। भाषा सरलीकरण की प्रक्रिया एवं विचारधारात्मक प्रेम और फ्रेम में हमने कथा (कहानी) जैसी रोचक विधा को इस क़दर जटिल बना दिया है कि पठनीयता अपने आपमें सबसे बड़ा 'प्रश्न' बन गया है। तिस पर प्रश्न कैसा है, 'समस्या' है! हम भूलते जा रहे हैं कि 'कथा' कही एवं सुनी जाती है और उसका आस्वादन किया जाता है। उसमें आँखों से (शब्दों से) हृदय में गहरे उतर जाने और गहरा प्रभाव छोड़ने की अद्भुत शक्ति होती है। यही शक्ति पाठक को अनायास श्रोता (सहृदय) बना देती है। कथा के पात्रों के साथ सहृदय का तादात्म्य ही कथा की जीवंतता (प्रभावशीलता) का प्रमाण है। ब़हरहाल, कथा अथवा कहानी कहते ही अनायास ही दादी माँ और नानी माँ का स्मरण हो आता है। बचपन में दादी माँ और नानी माँ की कहानियाँ थपकियाँ देकर सुलाया करती थीं। कहीं–न–कहीं बचपन की सुनी कहानियाँ हममें अंदर–ही–अंदर बौद्धिकता–तार्किकता–चेतनता जगाती आई हैं, जो हममें स्मृति रूप में बसी रही हैं। जीवनपर्यंत बसी रहती हैं और यथावश्यकता तथा प्रसंगानुसार स्मरण आती रहती हैं और असरदार काम करती हैं। जो भी हो, प्रत्येक व्यक्ति को बचपन में सुनी कहानियाँ अवश्य ही याद रह जाती हैं (होंगी)।

राम–कृष्ण, चाणक्य–चंद्रगुप्त, छत्रपति शिवाजी महाराज आदि के जीवन से जुड़ी प्रबोधन करने वाली कहानियाँ तथा 'अरेबियन नाइट्स' (अलिफ लैला) के सिंदबाद जहाज़ी, बीरबल एवं तेनाली राम की होशयारी–चतुराई से भरी कहानियाँ बाल मन पर गहरा प्रभाव डालती रही हैं। इनसे बच्चों का न केवल मन बहलता है, अपितु

वे बहुत कुछ सीखते–समझते हैं। 'पंचतंत्र' की प्रत्येक कहानी में जीवन का मंत्र एवं तत्व–सत्व विद्यमान है। इन कथाओं को सुन कर (पढ़ कर) हममें भावात्मकता के साथ–साथ चेतनात्मकता भी उत्पन्न होती ही है। इन कथाओं को 'बोध कथा' (नीतिकथा) संभवतः इसीलिए कहा जाता है क्योंकि इनसे हमारी बोध एवं क्षमता में कल्पनातीत वृद्धि होती है।

स्वयं प्रकाश की '*मेरी प्रिय कथाएँ*' (2012) पढ़ते हुए बचपन में यदा–कदा सुनी कथाएँ स्मृतियों की आड़ से लुक–छुप कर स्मरण आती हैं। परिस्थिति, पारिस्थितिकी, परिवेश, व्यक्ति, जीवन–संबंध, कुलमिलाकर लोक–जीवन में अंतर्व्याप्त भावना और इनमें हो रही उथल–पुथल की थाह लेती स्वयं प्रकाश की कहानियाँ अंत तक बाँध कर रखती हैं। यह ऐसा बंधन है कि मुक्ति की इच्छा का अंतर्बोध नहीं कराता और पाठक कहानियों में छटपटाते कथा–पात्रों के साथ सहज ही जुड़ता चला जाता है। जीवन के अनेकानेक पहलुओं से रू–ब–रू होता चला जाता है। अधिकतर कहानियों में ऐसा लगता है, मानो स्वयं प्रकाश व्यक्ति तथा उसकी प्रत्येक हरक़त, कुलमिलाकर जीवन को 3–डी नेत्रों से देख रहे हैं– बहुत क़रीब से और उसमें इस क़दर गहरे उतर रहे हैं, गोया विभ्रम और यथार्थ एकरूप हो गये हैं। कथा एक सीध में चलने के बावजूद कहानियों के किरदार कब, किस षड्यंत्र का शिकार हो जायेंगे, पता ही नहीं चलता। आरंभ से अंत तक एक सनसनी और रहस्यात्मकता पूर्ण सातत्य के साथ बनी रहती है। ऐसा लगता है, मानो अपने ही शब्द–विचार–स्वप्न धोखाधड़ी करने लगे हैं। जो चाहते हैं, वह होता नहीं और जो होता है, वह कभी चाहा ही नहीं था की–सी स्थिति निरंतर बनी रहती है। किसी का, किसी से किसी तरह का साथ नहीं है। सब व्यस्त हैं, मस्त हैं और त्रस्त भी। मज़ेदार बात यह है कि सब एक–दूसरे से कुछ–न–कुछ चाह रहे हैं। सच! इस घोर अति–आधुनिक समय में व्यक्ति ऊपर–ही–ऊपर जुड़ा हुआ है परंतु भीतर से अलहदा तथा आत्मकेंद्रित जीवन जी रहा है। गोया जो सामने उपस्थित (प्रस्तुत) है, वह वास्तव (में) है ही नहीं। जीवन रहस्य–सा बनता और बीतता जा रहा है। हम अपनी ही खोज करने लगे हैं कि कहाँ खोए–खोए से रहने लगे हैं कि वह कौन–सी दुनिया है, जिसने अपनी ही दुनिया से हमें अलहदा कर जीने का आदी बना दिया है! कभी–कभार हमें अपनी ही दुनिया से डर–सा लगने लगता है। जीवन को सनसनीखेज बनते देख अनायास ही रोंगटे खड़े होने लगते हैं।

ऐसे रहस्यमय समय में, मानो या न मानो 'लोक का विलोप' हो रहा है और स्थापित हो रहा है–एक अशांत–उद्विग्न समाज, जिसका स्वाभाविक झुकाव बाज़ार और लाभ (मुनाफ़ा) की ओर भी है और समतामूलक समाज की ओर भी। जबकि पता है कि दोनों एकसाथ संभव नहीं हैं। रिश्ते, नाते, संबंध, भावनाएँ, प्रेम, अपनत्व, जीवन–मूल्य, जीवन के अंतरंग (सहवास) पल, स्त्री का यौवन और सुंदरता से लेकर बच्चों की मुस्कान एवं किलकारियों तक सब कुछ बाज़ार की गिरफ़्त (कैद) में है। बाज़ार सबकुछ को 'कैश' करना चाहता है। क्योंकि हर 'अच्छी' (सुंदर) लगने–दिखने वाली चीज़ 'बिकाऊ' है। यदि बिकाऊ न भी हो तो बाज़ार के पास उसे बिकाऊ बनाने के हर तरह के औज़ार (हथकंडे) मयस्सर हैं। ऐसे समय में नैतिकता–शुचिता–मूल्यों की बात करना

लगभग वर्जित हो गया है। लाज़िमी है – अब वह सबकुछ सामंती मूल्य मात्र हैं (आउटडेटेड) और उनसे 'बौद्धिक पिछड़ापन' दिखता है। आज हरकोई हर तरह से 'आधुनिक' कहलाना चाहता है, फिर चाहे जो–जैसा करना पड़े। ऐसे में रिश्ते–नाते–संबंध, समाज–भाषा–जीवन का केंद्रीभूत स्वरूप उजागर होता जाता है। गोया एक अज़ीब तरह के साम्राज्य का विस्तार हुआ है, जिसमें हरकोई सम्राट है और हर उस ऊँचाई को हासिल करना चाहता है, जो वास्तव में किसी को मयस्सर नहीं।

कहना न होगा कि बाज़ार के इस परिवेश में 'लोक' शब्द जर्जर–पंजर बन गया है और प्रचलन में आ गया है–'लोग'। प्रायः 'लोग' शब्द का प्रयोग 'अपनत्व' का नहीं बल्कि 'परायेपन' की भावना का बोध कराता है। सनद रहे– जब बातों ही बातों में किन्हीं अपनों के लिए 'लोग' शब्द का प्रयोग होता है, तो वे प्रायः नाराज़ हो जाते हैं और कहने लगते हैं – "अच्छा! अब हम 'लोग' हो गए?"

'लोक' शब्द अत्यंत व्यापक है। इसमें 'लोग' के विपरीत अपनत्व ही अपनत्व विद्यमान है। ब़हरहाल, 'लोक' शब्द धीरे–धीरे प्रचलन से बाहर हो रहा है अथवा प्रयुक्त हो भी रहा है तो 'फैशन' के तौर पर ही अन्यथा 'भदेस' के रूप में अथवा अंग्रेज़ी के 'फोक' के अनुवाद के रूप में, जो कि सर्वतः अनुचित है। जो हो, लोक की भावनाएँ धीरे–धीरे क्षीण होती जा रही हैं। ऐसे समय में, स्वयं प्रकाश ने '*मेरी प्रिय कथाएँ*' के माध्यम से कहानी को लोककथा के कथ्य–शिल्प में प्रस्तुत कर लोक के अस्तित्व को पुनरुज्जीवित करने का प्रयास किया है।

वैसे, इस बाज़ारवादी समय में साहित्य की तमाम विधाओं में जहाँ 'फैशन' और नित–नवीन 'मॉडल' का बोलबाला है, लोककथा के कथ्य–शिल्प में कहानी रचना और पूरे संकलन में उसकी निरंतरता बरक़रार रखना, किसी जादुई हरक़त से कम नहीं है, परंतु स्वयं प्रकाश ने इसे चुनौती के रूप में तीव्र भावावेग में तमाम भावस्थितियों–मनःस्थितियों को रेखांकित करते हुए प्रस्तुत किया है। ऐसा करने का कारण लेखक ने स्पष्ट किया है "लोककथाओं का कथ्य सर्वकालिक होता है, अर्थात् किसी भी समय का आदमी उसके साथ जुड़ाव महसूस कर सकता है। दूसरे उसे कहने का ढंग इतना रोचक होता है कि सुनने वाले का ध्यान इधर–उधर न भटके। कथा एक सीध में चलती है। उसमें फालतू के भटकाव या पेंच नहीं होते और उसका प्रवाह निरंतर बना रहता है और... उसमें कुछ कुतूहल का तत्व भी होता है।"[1] कथा के फलक को व्यापक और सर्वकालिक बनाने की दृष्टि से यह उत्तम प्रयास है। वह कथा ही क्या जो समय–परिस्थिति के साथ कालबाह्य हो जाए। परंतु, यदि वह किसी अव्यवहार्य विचारधारा का अनुसरण करती है तो उस पर कालबाह्य होने का ख़तरा सहज ही मंडराने लगता है।

उल्लेखनीय है कि लोककथाओं में अपने इर्दगिर्द के परिवेश की अत्यंत सूक्ष्म एवं सहज बुनावट होती है। लोककथाओं में व्यक्ति का अपने परिवेश से लगाव आसक्ति के हद तक दिखाई देता है। यहाँ तक कि बहुत हद तक व्यक्ति और परिवेश को अलगा कर देखना भी संभव नहीं हो पाता है, गोया व्यक्ति और परिवेश एक–दूसरे के पूरक बन गए हों। यही पारस्परिक अनंतरता लोक की, अतएव लोककथाओं की विशेषता है। यद्यपि परिवेश से लगाव और जुड़ाव (इनवॉल्वमेंट) के बावजूद व्यक्ति

पर परिवेश हावी नहीं है। वह 'स्व' से 'सर्वस्व' तक पहुँचने को उद्यत होता है। 'मेरी प्रिय कथाएँ' में बहुतांश स्थानों पर लगता रहा कि व्यक्ति पर परिवेश और अन्य कारक (विचारधारा) हावी हो रहे हैं।

ब़हरहाल, इस संकलन की पहली कहानी *'जंगल का दाह'* व्यक्ति और परिवेश की पारस्परिक अनंतरता को उजागर करने वाली कहानी है। इसमें एक ओर व्यक्ति का अपने परिवेश से लगाव–जुड़ाव अंकित है, तो दूसरी ओर व्यक्ति की लालसा–लोलुपता–स्वार्थांधता भी! इसमें केवल सत्ता वर्ग की लोलुपता और स्वार्थपरता ही नहीं अपितु जनजातीय रुझानों के साथ–साथ पारिस्थितिक एवं समसामयिक संदर्भों में पड़ताल भी उल्लेखनीय है। वनवासी मामा सोन के चरित्र के माध्यम से स्वयं प्रकाश ने एक ऐसा प्रतीक गढ़ा है, जो प्रकृति की गोद में बैठे हुए पारिस्थितिक संतुलन बनाए रखना जानता (चाहता) है। यह भी कि वनवासी समाज अपनी सरलता के कारण अपने जीवन में कष्ट–बाधाओं का सामना करता रहा है। मामा सोन अपनी स्वाभाविक सरलता के कारण मात खा जाते हैं। पूरी कहानी में मानसिक स्थितियों की कसमसाहट और गहनता अत्यंत सरलीकृत एवं काव्यात्मक रूप में प्रस्तुत हुई है।

कथा का आरंभ प्रस्तावना से हुआ है जो प्रायः लोककथाओं में पाया जाता है। कथा के आरंभ में ही वनवासी मामा सोन के जीवन एवं सहअस्तित्व की पूरी झलक मिल जाती है। अर्थात् कथा के केन्द्र में वनवासी मामा सोन हैं, जो वनवासी बच्चों को धनुर्विद्या सिखाते हैं और आगे यही बच्चे धृष्ट राजकुमार के प्राण बचाते हैं। मामा सोन की विद्या के चर्चे सुन कर राजा अपने 'नालायक' राजकुमार की शिक्षा–दीक्षा के लिए उन्हें ही चुनता है और उनका नया नामकरण करता है–आचार्य शोण। कथाकार अभिजात दृष्टि पर कटाक्ष करता है कि "लँगोटी लगाने वाला मामा सोन राजकुमार का गुरु कैसे हो सकता है?"[2] फिर तो राजा जंगल में ही राजकुमार के लिए सारे 'ऐशो–आराम' तलब कर देता है। महल बनवाया जाता है और तमाम बंदोबस्तों के बावजूद अंततः जब वह धनुर्विद्या सीखने में असफल हो जाता है, तो मामा सोन को ही उसके बाण का लक्ष्य बना देता है क्योंकि "मनुष्य से बड़ा कौन सा लक्ष्य हो सकता है।"[3] यह कथन अयोग्य की योग्य पर सत्ता और अराजकता को इंगित करता है। राजा–राजकुमार संदर्भ को वंशवादी दृष्टि से देखा जा सकता है। ऐसा प्रतीत होता है, मानो कथाकार वर्तमान राजनीतिक दलों की वंशवादी प्रणाली पर कटाक्ष कर रहा है। सहज संकेत हैं कि अयोग्य राजकुमार बारंबार असफल होने के बावजूद न केवल राजा बनने को उद्यत है अपितु वह हथकंडे अपना कर वर्चस्वशाली होने का दंभ भरता है।

कथा करवट लेती है और "इससे पहले कि तीर राजकुमार की कमान से निकले, चारों तरफ के घने पेड़ों के पीछे से सैकड़ों तीरों की वर्षा शुरू हो गयी। राजा के सैनिकों में भगदड़ मच गयी और वे छिपने की और मोर्चा लेने की जगह ढूँढ़ने लगे। कुछ ही देर बाद चारों तरफ से भालू, बंदर, सियार, बाघ, बघेरे, साँप, बिच्छू, ततैया, मधुमक्खी, चील, बाज, हिरन, बारहसिंघा, लकड़बग्घा, ऊदबिलाव, गैंडे, भैंसे, जिराफ, हाथी निकल आये और भयानक गर्जनाएँ करते हुए राजा के सैनिकों को उठा–उठाकर इधर से उधर फेंकने लगे। जंगल के इस अचानक और अप्रत्याशित आक्रमण से राजा की प्रशिक्षित सैन्य टुकड़ी के भी

पैर उखड़ने लगे।"[4] इस अप्रत्याशित आक्रमण का उत्तर राजा–राजकुमार–सेना जंगल में आग लगा कर देते हैं, जिसमें मामा सोन (आचार्य शोण) के साथ–साथ उनकी धनुर्विद्या, वनवासी बच्चे और वन्य जीव जल कर राख हो जाते हैं। कथाकार ने बड़ी चतुराई से लिखा है– "कहने वालों ने कहा कि बरसात के बाद वहाँ वन्य वनस्पति और ज़्यादा लहलहाकर फूटेंगी। कहने वालों ने यह भी कहा कि वनवासियों के बीच से ही एक दिन फिर कोई मामा सोन जन्म लेगा।"[5]

कथा का अंत निष्कर्ष–सा प्रतीत होने के बावजूद अपने आप में एक नई कहानी के आरंभ–सा लगता है – "आज मामा सोन के वंशज शहर में बांस की टोकरियाँ, तार के छींके और गत्ते के तोते–चिडियाँ आदि बना कर बेच रहे हैं।"[6] क्रमशः "सुना है उनके इलाके में कोई बड़ा बाँध बन रहा है, जिससे देश की बड़ी तरक्की होगी। मामा सोन के वंशजों और शिष्यों को जंगल से निकाल दिया गया है।"[7] यद्यपि कथा से गुज़रते हुए प्रतीत होता है कि कथाकार का उद्देश्य वनवासियों के विस्थापन की समस्या, उनकी कला, एकता, संसक्ति और सहज जीवन को रेखांकित करना रहा है, तथापि 'शोषक–शोषित' के बने–बनाये सैद्धांतिक ढर्रे का ही सहारा लिया गया है। कथा अपने कलेवर और डिलिवरी में कलात्मक होने के बावजूद प्रश्न उपस्थित करती है कि जो साहित्य समाज में ध्वंस उत्पन्न करने की क्षमता से भरपूर हो, क्या वह सामाजिक स्वास्थ्य के लिए हानिकर नहीं होगी? हिंदी साहित्य में सैद्धांतिक दृष्टि से रूढ़ हो चुकीं इन (ऐसी) 'रस्मी भ्रांतियों' का पटाक्षेप होना क्या समाजानुकूल एवं समयानुकूल नहीं है?

वैसे, कथा जहाँ समाप्त होती है, वहीं उसके नए आरंभ की गुंजाइश उभर कर आती है। यही गुंजाइश किंवदंतियों को जन्म देती है और 'कहा जाता है' के लहज़े में कथा के विस्तार की सतत संभावना बनी रहती है। अंत में पाठक पीड़ामयी अनुभूति के साथ सोच–विचारने को बाध्य हो जाता है कि विकास के नाम पर बनते बाँध इत्यादि के कारण वनवासी अभिशप्त जीवन जीने को बाध्य हैं। कटते जंगलों से होने वाले असंतुलन के प्रति कोई सतर्क नहीं और वनवासियों के प्रति कोई संवेदनशील नहीं। 'हैण्डी क्राफ्ट' मेले में वनवासियों की भावनाएँ बिकती हैं और विडंबना यह कि इसी से उनका पेट पलता है। बिकी हुई वही चीज़ें शहरी घरों को सुशोभित करते हुए 'इन्डिजीनस' कहलाती हैं।

इस तर्क में 'राज्य–बनाम–वनवासी' का बना बनाया पैटर्न उभर कर आता है। ऐसे पैटर्न पर लिखा गया साहित्य प्रायः एकांगी और कालबाह्य दृष्टि (विचारधारा) का बोध कराता है। निरंतर बढ़ती जनसंख्या, वैश्विक प्रतिद्वंद्विता, हर किसी का विकास के प्रति आग्रह इत्यादि अधिकाधिक संसाधनों की खोज और दोहन के लिए बाध्य करता है। एक प्रश्न यह भी उभरता है कि क्या यह सत्य नहीं कि वनवासियों के प्रति राज्य के रुख़ को सैद्धांतिक फ्रेम में कैद हिंदी साहित्यकार अत्यंत बर्बर रूप में दर्शाते हैं? साहित्यिक आलोचना के क्षेत्र में ऐसे प्रश्न अनुत्तरित ही रह जाते हैं।

वैसे, प्रकृति–पर्यावरण को लेकर सबमें एक स्वाभाविक पीड़ा दर्शनीय है। हम भूलते जा रहे हैं कि जंगल का लगातार कटना पारिस्थितिक असंतुलन का सूचक है और वनवासियों का लगातार घटते–मिटते जाना समस्त कुरूप संभावनाओं का सूचक है। पिछले और इस वर्ष ब्राजील के अमेज़ॉन में कई बार जंगलदाह (दावाग्नि) के समाचार आते रहे हैं। यह पारिस्थितिक असंतुलन की दृष्टि से भयभीत करने

वाली कुरूपता को दर्शाता है। मामा सोन के साथ–साथ उस विशेषीकृत विद्या का जल कर राख हो जाना 'बौद्धिक संपदा' के नष्ट होने को संकेतित करता है। हममें बिना परिश्रम के सब कुछ एकसाथ पा जाने हेतु उत्पन्न हुई लालसा ने पारस्परिक असंतुलन उत्पन्न कर दिया है, जो हमें केवल पतन की ओर ले (जा रहा) जाता है। इसमें सबकी समान भागीदारी है।

इस संकलन की एक और कहानी '*कानदांव*' मूलतः मित्रता और संबंधों में आ रहे गणितवादी रवैये को उजागर करने वाली कहानी है परंतु कथा के आरंभ में कथाकार ने 'सूचना के युग' का उल्लेख कर कहानी पर विचार–विमर्श का मार्ग सरल–स्पष्ट कर दिया है। 'सूचना का युग' में महीन मार करता हुआ व्यंग्य है। यद्यपि समस्त सूचनाएँ (बातें) विश्वसनीय नहीं होतीं परंतु हम सहज रूप से हर सूचना को विश्वसनीय मानते–समझते हैं। *'कानदांव'* में कथा दो मित्रों की है – बनिया और पठान! "दोनों का साथ ऐसा जैसे घी–शक्कर, पर किसी बात पर हो गई दोनों में अनबन और अनबन भी ऐसी कि मुँह पर तो मीठे–मीठे लेकिन अंदर–अंदर एक–दूसरे की खाल खींचने को उतावले।"[8] दरअसल "बनिये–पठान की दोस्ती से जलकर किसी ने पठान में फूँक भर दी कि बनिया हिसाब में डंडी मार रहा है और तुझसे ऐसे कागज़ों पर टीप मंडवा रहा है कि जिनसे एक दिन तेरी ज़मीन बनिये की हो जाएगी।"[9]

चूँकि सूचना का युग है तो 'मोटी बुद्धि वाले' पठान ने बगैर सोचे–समझे तात्कालिक प्रत्यक्षता के आधार पर सूचना को विश्वसनीय मान लेता है और दोनों के संबंधों में तनातनी हो जाती है। संबंधों का मामला अत्यंत गंभीर है। एकबार टूट जाते हैं तो किसी फेविकॉल अथवा फेविक्विक से नहीं जुड़ते। जुड़ भी जाएँ तो गाँठ जीवनपर्यंत बनी रहे – "टूटे से फिर ना जुड़े, जुड़े गाँठ परि जाय।" खैर, सूचना के इस भीतर–बाहर फैले मायाजाल ने सबको अपनी ज़द में कर लिया है- "कहते हैं, किसी ज़माने में कोयल कुहू–कुहू बोलती थी और पपीहा पीहू–पीहू। लोग पहली रोटी गाय के लिए निकालते थे और आखिरी कुत्ते के लिए। मुसलमान की बेटी की शादी हो तो हिन्दू कन्यादान लेकर जाते थे और हिन्दू की बेटी की शादी हो तो मुसलमान जोड़ा लेकर।"[10]

व्यंग्यात्मक दृष्टि में हिंदू–मुसलमान ऐक्य के आदर्श का उल्लेख कहानी में आता है। वास्तव में संकेत किया है कि सूचना–संचार ने तो दोनों को एक–दूसरे का प्रतिद्वंद्वी (विरोधी) बना दिया है। ऐसी स्थितियों की ओर भी इंगित किया है कि हिन्दू–मुसलमान प्रेम–भाईचारे से रह ही नहीं सकते। रहने लग भी जाए तो संबंध अत्यंत नाटकीय लगने लगते हैं। ऐसी सूचनाओं का प्रचार–प्रसार नाटकीय अंदाज़ में ही अधिक होता है। अतः विश्वसनीयता खोते मीडिया पर लगातार चर्चाएँ और वार्ताएँ होती (रहती) हैं।

इस कथा की सारी घटनाएँ बहुत ही स्थूल होने के बावजूद संवादों में 'सूक्ष्म भावस्थितियाँ' मौजूद हैं। पठान को बनिए पर अविश्वास है और चूँकि उसे अपने बाजुओं पर गर्व है। अतः वह सारा हिसाब–क़िताब अखाड़े में तय करना चाहता है। कहानी की अंतर्यात्रा करते हुए सहज ही राजपाल यादव अभीनित कॉमेडी फ़िल्म 'कुश्ती' का स्मरण हो आता है। उस फ़िल्म की भाँति कथा में भी तीव्र नाटकीयता और विनोदी स्थितियाँ मौजूद हैं। बनिया शरीर से दुर्बल (थुलथुल) परंतु बुद्धि से कुटिल है और कुटिलता का चरम यह है कि कुश्ती के मैदान में बनिया पठान से कुश्ती की 'मैच फिक्सिंग' कर लेता है–"हज़ार अशर्फियाँ चाहिए?

सोने की? ...तेरी सारी ज़मीन छोड़ दूँगा और हज़ार अशर्फियाँ ऊपर से दूँगा। सोने की बोल? चाहिए?... मैं लंगी लगाऊँगा, तू चित्त हो जाना। कुछ देर तड़पना और फिर बस... हज़ार अशर्फी तेरी, सोने की..."[11] और बनिया कुश्ती जीत जाता है।

कथाकार ने इसे "इतिहास की पहली मैच फिक्सिंग"[12] कहा है, और इसी को हिन्दी में *'कानदांव'* कहा है। परंतु कथा–पात्रों की अपने हिस्से की ईमानदारी भी है। 'बनिया वादे' (फिक्सिंग) के अनुसार पठान को हज़ार अशर्फियाँ देता है और तय होता है कि ज़मीन बनिए की ही रहेगी परंतु खेती पठान करेगा तथा आधा हिस्सा बनिये को मिलेगा। क्योंकि "ऊपर जाकर किसी को मुँह दिखाना है।"[13]

कथा के अंत में कथाकार ने निष्कर्ष रूप में एक टिप्पणी की है – "इस महान सांस्कृतिक हरक़त ने हिंदुओं और मुस्लिमों के बीच पीढ़ी–दर–पीढ़ी के लिए ऐसा सौहार्द, ऐसी समरसता, ऐसा भाईचारा, ऐसा इत्तिहाद पैदा किया कि अंग्रेज़ों को भी उसे तोड़ने में एड़ी–चोटी का पसीना एक करना पड़ा।"[14]

इस चिंतन धारा में व्यंग्योक्ति होने के बावजूद लोक की साधारणता को असाधारण रूप में अभिव्यक्त करने का प्रयास हुआ है। देशांतर्गत एवं सामाजिक परिवेश को सार्थक, सुदृढ़ एवं गौरवमय बनाने की दृष्टि से सौहार्द और समरसता ही उपचारक तत्व हो सकते हैं। स्वयं प्रकाश ने अपनी लोककथाओं में इसे प्रकारान्तर से रेखांकित किया है। लोककथा-शिल्प की दृष्टि से देखा जाए तो कहना न होगा कि लोक के संसार की व्याप्ति असीम है और उसका कथ्य एवं शिल्प अपने पुरातन रूप के बावजूद रोचकता के संचार से लैस है।

निष्कर्ष :

लाभवाद और अवसरवाद के इस समय में यदि कोई अपने हिस्से की इतनी भी ईमानदारी बचा ले तो संबंधों में उलझनें, गहरी विषण्णता, तीखा अवसाद और बिखराव आने से पहले उन्हें संभाला जा सकता है। स्व–हित की कामना से बने संबंधों में अपने–आप ही दीवार खड़ी हो जाती है और फिर दरारों से संबंधों का फटा हाल दिखाई देता है। सूचना–संचार ने हमें विश्व के तमाम देशों से रू–ब–रू कराया है परंतु अपनों से दूर खड़ा कर दिया है। सारे संबंधों का आधार 'पैसा' हो गया है और बहुत सरलीकृत वक्तव्य यह है कि 'बेहतरी के लिए बहुत पापड़ बेलने पड़ते हैं।' इसलिए एक–एक पैसे की क़ीमत ज़्यादा लगने लगी है और संबंध सीमित एवं अनुदार। इस पैसा आधारित तंत्र (समय) ने जीवन एवं विचारों में ऐसी टकराहट उत्पन्न कर दी है कि व्यक्ति दिन–ब–दिन अत्यंत संकुचित होता जा रहा है। स्वयं प्रकाश ने अपनी कहानियों के माध्यम से विषय वैविध्य प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। कुछेक जगह वैचारिक अंधानुकरण के कारण कथा का फलक संकुचित हो जाता है। परंतु संकलन की कथाओं का पारायण एवं आस्वादन समसामयिक जीवन में बेहतरी की अपेक्षा से किया जा सकता है। साहित्य के साथ–साथ आलोचना का भी यही मापदंड होना चाहिए कि समाजोद्धार और राष्ट्रोद्धार के लिए वह किस प्रकार सहयोग कर सकती है। अंततः यही सच है कि वैचारिक चौखटेबद्ध रचना और आलोचना की प्रासंगिकता परिवेश–परिस्थितियों में परिवर्तन के उपरांत क्षीण हो जाती है। रचनाकार और आलोचक को अपनी कालबाह्य वैचारिकी को तिलांजलि देकर देश और समाज (लोक) में सौहार्द एवं सामरस्य

स्थापना हेतु 'मैच फिक्सिंग' कर लेना चाहिए और 'कानदांव' के बनिये की तरह अपने हिस्से की पूरी ईमानदारी भी रखनी चाहिए–देश और समाज (लोक) के प्रति।

संदर्भ :

[1] स्वयं प्रकाश, मेरी प्रिय कथाएँ, ज्योतिपर्व प्रकाशन, गाजियाबाद, उत्तर प्रदेश, 2012, भूमिका

[2] वही, पृ. 13

[3] वही, पृ. 19

[4] वही, पृ. 19

[5] वही, पृ. 20

[6] वही, पृ. 20

[7] वही, पृ. 20

[8] वही, पृ. 21

[9] वही, पृ. 21

[10] वही, पृ. 21

[11] वही, पृ. 25

[12] वही, पृ. 26

[13] वही, पृ. 27

[14] वही, पृ. 27

सहायक प्रोफेसर,हिन्दी विभाग,
तमिलनाडु केन्द्रीय विश्वविद्यालय,
तिरुवारूर, तमिलनाडु

8

आधुनिक साहित्यिक हिन्दी में प्रचलित पूर्ण संख्यावाचक शब्दों का उद्गम एवं विकास

डॉ. सिराजूद्दीन नुर्मातोव

इस आलेख में हिन्दी में प्रचलित संख्यावाचक शब्दों की व्युत्पत्ति विस्तारपूर्वक अध्ययन की गई है। उल्लेखनीय है कि हिन्दी के संख्यावाचक शब्द सैद्धांतिक तौर पर उज़बेक भारततत्त्व-विशारद विद्वानों की ओर से विशेष रूप में अध्ययन नहीं किये गये हैं। इस आलेख के मुख्य उद्देश्यों में से एक –आधुनिक साहित्यिक हिन्दी भाषा में प्रचलित पूर्ण संख्यावाचक शब्दों का अध्ययन भाषा वैज्ञानिक दृष्टिकोण से करना है।

संख्यावाचक शब्द अनुसंधानकर्ताओं द्वारा प्राचीन समय से अध्ययन किये जा रहे हैं, पर यह मानना आवश्यक है कि संख्यावाचक विशेषण की विशेषताएँ समान रूप से अनुसंधान नहीं की गयी हैं। यह समस्या संसार की अनेक भाषाओं में तो बिल्कुल नहीं अध्ययन की गयी है। इस के बारे में वरिष्ठ विद्वान डॉ अ. सुप्रुन ने लिखा था : "संख्याओं का ढाँचा सभी भाषाओं में एक जैसा नहीं होता है। संख्यावाचक विशेषण की अपनी अलग-सी विशेषताएँ होती हैं।" [6: 148]

विश्वसनीय सूत्रों से यह पता चलता है कि विभिन्न भाषाओं में संख्यावाचक शब्द संस्कृत से विकसित होते तत्स्थानीय मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा से होकर नहीं आये हैं, अपितु मध्यकाल में किसी परिनिष्ठित भाषा के संख्यावाचक शब्द ही पूरे आर्य भाषा-भाषी प्रदेश में छा गये और स्थानीय प्राकृतों के अपने शब्दों को उन्होंने समाप्त कर दिया। इस प्रकार अन्य शब्द जहाँ संस्कृत काल से परिवर्तित होते आ रहे हैं, संख्यावाचक शब्द प्राकृत काल से ही अलग-अलग विकसित हुए हैं। [5: 585]

सर्वप्रथम यह भी लिखना आवश्यक है कि दशमिक अंकप्रणाली से तात्पर्य 1, 2, 3, 4, 5, 6, 7, 8, 9, 0 की सहायता से क्रम ले दस गुने स्थान मान का प्रयोग करके लिखी जानेवाली संख्याओं की निर्देशन पद्धति से है। इस पद्धति से बड़ी से बड़ी संख्या को जितने अच्छे ढंग से लिखा जा सकता है उतना संसार की किसी अन्य संख्या-लेखन-प्रणाली से नहीं लिखा जा सकता है। अतएव इस पद्धति का संसार में आज सर्वत्र प्रचार है। इस पद्धति की मूलभूत बातें दो हैं, प्रथम शून्य की कल्पना तथा दूसरे संख्याओं के उत्तरोत्तर दस गुणित मान की कल्पना है। [3: 134]

शून्य का आविष्कार भारत में ही हुआ है। यह प्रायः सभी स्वीकार करते हैं। शून्य शब्द श्वि धातु के क्त प्रत्ययान्त रूप शून की भाववाचक संज्ञा है। श्वि का अर्थ है सूजना, बढ़ना। श्वि की क्रियार्थक संज्ञा श्वयन है जिससे बिगड़कर हिन्दी की क्रियार्थक संज्ञा सूजना बनी। शून का अर्थ है सूजा हुआ। ऋग्वेद में शून का अर्थ है बढ़ा हुआ तथा समृद्ध। सृष्टि के प्रारम्भ में अण्ड (ब्रह्मांड) शून होता अर्थात् बढ़ता चला गया और फिर फट गया जिससे आकाश की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार शून्य के "खालीपन" तथा "आकाश" अर्थ हुए।

हिन्दी के संख्यावाचक शब्द कैसे विचित्र विकासित हुए हैं, इनका बड़ा मनोरंजक इतिहास है। कुछ के कुछ बन गए हैं। वस्तुतः केवल संख्यावाचक शब्दों का ही स्वच्छंद विकास हुआ

है। पढ़े-बेपढ़े सभी तरह के लोगों का काम संख्यावाचक शब्दों से पड़ता है। फिर 1,2,3 आदि पृथक् संकेत जो (अंक-रूप में) स्थिर कर दिए गए, उस से और भी शब्द-परिवर्तन स्वच्छंद हो गया। नौ संकेत समझ लिए और करोड़ों का हिसाब-किताब करने लगे। (42) लिख देने से सबके समझ में इस संख्या का अर्थ तुरंत आता है। अब कोई इसे *"बयालीस"* कहता है, कोई *"बतालीस"* और कोई *"दुचालिस"* भी कह सकता है। परन्तु "42" मतलब सब को एक देगा। पर इस संख्या को सब भिन्न-भिन्न रूपों में बोलेंगे। यदि ये अंक न होते, तो कदाचित् संख्यावाचक शब्दों में उतना परिवर्तन न होता। कुछ भी हो, इन संख्यावाचक शब्दों में यह समझ में आता है कि भाषा का विकास किस तरह अनियंत्रित चलता है, यदि उसे लिपि-बद्ध कर के साहित्यिक रूप न दिया जाए। साहित्यिक हिन्दी ने भी संख्यावाचक उन्हीं शब्दों को ग्रहण कर लिया है, जो उस तरह जनता में स्वतः उस रूप में विकसित हुए। [2: 86]

एक संस्कृत का तत्सम शब्द है। कितने आश्चर्य की बात है कि सबसे प्राचीन संख्या होने पर भी यह अभी तक अविकृत रूप में है। *दो* संस्कृत *द्वौ* से, संस्कृत *त्रीणि* से तथा *चार* संस्कृत *चत्वारः* से बने हैं। संस्कृत के कर्त्ताकारक के रूप ही हिन्दी में प्रचलित हुए। जैसे - माता, पिता न कि मातृ, पितृ। इसी प्रकार उपरोक्त शब्द संस्कृत शब्दों के कर्त्ताकारक के रूपों के अपभ्रंश हैं। संस्कृत *पंच* से *पाँच* आसानी से समझ में आ जाता है।

समस्युक्त हिन्दी शब्दों में *पंच* का भी प्रयोग होता है जैसे पंचमेल मिठाई। हिन्दी का *छः* शब्द संस्कृत *षष्* से बना है। प्राकृत में "षट्शावक सप्त-वर्णानां छः" इस सूत्र से प्रथम *ष* का *छ* हो गया। *षष्* से इस प्रकार *छष्* तथा *छष्* से *छः* हो गया। जैसे धनुष् शब्द का कर्त्ताकारक एकवचन में धनुः हो जाता है।

सात संस्कृत *सप्त* का तद्भव है अर्थात् *सप्त* से प्राकृत में *सत्त* तथा *सत्त* से *सात* हो गया वैसे *सत्तरह* और *सत्ताईस, सतानवे* आदि में प्राकृत *सत* अब भी पाया जाता है। *आठ* भी संस्कृत *अष्ट* का तद्भव है। *अष्ट* से प्राकृत में *अट्ठ* और *अट्ठ* से हिन्दी में *आठ* हो गया है। *नव* से *नौ* बना है *अव* तथा *औ* का पारस्परिक परिवर्तन हो गया है।

दश का प्राकृत रूप *दस* हिन्दी में भी यथावत् चल रहा है। दश के अन्य प्राकृत रूप *दह, लह* तथा *रह* भी हिन्दी के *बारह, सोलह* तथा *दहाई* में अब भी सुरक्षित हैं। एकादश से एगादास पुनः ग्यारस तदनु ग्यारह बन गया। *श* का *ह*, *र* का *ल* तथा "संख्ययांच" इस सूत्र से *द* का *र* हो गया। दैनिक बोलचाल में तिथिसूचक एकारांत तथा गिनती सूचक हकारांत रहे जिससे दोनों भावों की समझने में कठिनाई न पड़े। द्वादश में "दशादिषु हः" इस सूत्र से *श* का *ह* हो गया एवं "कादीनामष्टानां *क ग ङ त द प* षसाम् " सूत्र से संयुक्ताक्षर *द्व* के *द* का लोप हो जाता है। इस प्रकार *ग्यारह* से *अठारह* तक के सब शब्दों की व्युत्पत्ति सुगम हो जाती है।

उन्नीस के विषय में यह मान्यता है कि वैदिक संस्कृत में मूल शब्द *एकान्नविंशति* या जिसका शब्दार्थ एक से कम बीस था। *एकान्नविंशति* से सूत्रकाल में *एकोनविंशति* तथा उससे एक का लोप होकर *ऊनविंशति* बन गया। इस प्रकार एक नवीन

शब्द *ऊन* की उत्पत्ति हुई जो कम के अर्थ में समझ जाने लगा। *विंशति* के स्थान पर *विंश* शब्द भी संस्कृत में प्रचलित था। इस प्रकार *ऊनविंश* से प्राकृत में *ऊनबीसा* तथा हिन्दी में *उन्नीस* हो गया। प्राकृत का अन्य रूप *ऊनवीसड़, ऊनविंशति* का स्मारक है।

प्राकृत में *एकोनविंशति* से *एकूनवीसा* रूप भी बना जिसका बिगड़ा रूप *एकोनवीस* अब भी प्रादेशिक भाषाओं में चल रहा है। *उन्नीस* की भांति ही *उनतीस, उनतालीस* आदि शब्द बने। *दस* की गुणज संख्याओं *बीस, तीस,* आदि में बोलना साधारण जनता को सुगम रहता है अतएव ग्रामीण जनता *उन्नीस, उनतीस* आदि के लिए *एक कम बीस, एक कम तीस* ही बोलती है। अतएव दशमिक क्रम की *नवीं* संख्या को बहुधा *दशवीं* संख्या से *ऊन* शब्द द्वारा संबंधित कर लिया गया है। इसके अपवाद *नवासी* और *निन्यानवे* हैं जो अगली संख्या से संबंधित नहीं है। संस्कृत में ही 89 के लिए दो शब्द थे - *नवाशीति* तथा *ऊननवति।*

वास्तव में अगली संख्या से संबंधित न करके बोलने की भी प्रणाली संस्कृत में प्रचलित थी। *उन्नीस* को तैत्तिरीय संहिता तथा वाजसनेयिसंहिता में *नवदश* एवं *उनतीस* के लिए वाजसनेयि संहिता में *नवविंशति* शब्द का प्रयोग किया गया है। *निन्यानवे* संस्कृत *नवनवति* से बना है। *नवति* से *नव्वे* बना। *नव* का *निन* हो गया जो एक विचित्र परिवर्तन है। कुछ संख्याओं में संस्कृत से बहुत कम रूपांतर हुआ है, जैसे *पंचाश* से *पचास*। *दश* से *दह* तथा उससे दहाई संज्ञा बनी। जिस प्रकार एक से इकाई (एकाई) बना।

सैंकड़ा – सैंकड़े के विषय में कुछ लोगों का मत है कि यह शतकांड शब्द से बना है। शतकांद एक प्रकार का बांस होता है जिसमें सौ जोड़ होते हैं। चूंकि सौ के स्थान पर शतपर्वा नामक घास रख देते थे अतएव उस संख्या का नाम सौ पड़ा। [3: 141]. भाषाविदों के विचार में यह व्युत्पत्ति भाषा- शास्त्र की दृष्टि से ठीक नहीं है। प्रथम तो शत शब्द स्वयं अत्यन्त प्राचीन है। यह ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में ही आया है। अतः शतकांड अथवा शतपर्वा से बाद का यह शब्द है यही सन्दिग्ध हो गया। द्वितीय शत शब्द स्वयं इतना प्राचीन है कि यह एक भारोपीय शब्द है।

योरोपीय की अन्य भाषाओं में इससे मिलते - जुलते शब्द कन्त, सैंट आदि पाए जाते हैं। मूल शब्द दकान्त था जिसका अर्थ था दस से संबंधित। *द* का लोप होकर कान्त अथवा कन्त आदि शब्द बने। दकान्त से मिलता हुआ संस्कृत का दशति शब्द है जो महाभारत तथा पुराणों में आया है। दशति का होना स्वाभाविक भी है क्योंकि जब पंक्ति (10), *विंशती, त्रिंशत्, चत्वारिंशत् , सप्तति, अशीति, नवति* शब्द हैं तो इस माला की पूर्ति के लिए दशति शब्द अवश्य होगा। इसी दशति से भारोपीय भाषा के समान *द* का लोप होकर शति, शती तथा शत शब्द भी बने। *क* का फ्रेंच में *स* हो जाता है अतः वहां कन्त के बजाय सैंट शब्द बना।

अंग्रेज़ी में *क* का *ह* हो गया अतः *हंड* तथा *हंड* से *हंड्रेड* शब्द भी इसी परिवार का सदस्य है। *दशति* का *द* पूर्व वैदिक काल में ही उड़ गया था अतः वैदिक साहित्य में शत एवं शति का अधिक प्रयोग है किन्तु दशति का भी परवर्ती साहित्य में यदा-कदा प्रयोग मिलता है। सामवेद में *दशति* दस मंत्रों के समूह के अर्थ में आया है। इस प्रकार *शतैक* से *सैक* तथा *सैक* से स्वार्थ में हिन्दी का ड़ा प्रत्यय लगकर *सैकड़ा* बना।

हिन्दी *लाख* शब्द संस्कृत *लक्ष* से बना है। किन्तु संस्कृत में भी संख्यावाचक अर्थ में यह पाली से आया है। वैदिक संस्कृत में *लाख* के लिए *नियुत* शब्द आया है। अमरकोष में *लक्ष* अर्थात् *लक्ष* को *नियुत* का पर्याय माना है। देखिए - *"कोट्या शतादि: संख्यान्या वा लक्षा नियुत च तत् ।"* [4: 239]. जान पड़ता है कि जनसाधारण को वैदिक शब्द *अयुत, नियुत, प्रयुत* कुछ एक जैसे लगने के कारण कठिन जान पड़े और इसी लिए उन्होंने बौद्धों द्वारा प्रयुक्त *दस सहस्स, लक्ख* और *दसलक्ख* शब्द अपना लिये। वास्तव में किसी को भी यह स्मरण रखना कठिन है कि नियुत बड़ा है अथवा प्रयुत। तांड्यब्राह्मण में ही *नियुत* के लिए *प्रयुत* और *प्रयुत* के लिए *नियुत* शब्द प्रयुक्त कर दिये।

आजकल के संख्यावाचक मूलशब्द *हज़ार, लाख, करोड़, अरब, खरब, नील, पद्म* और *शंख* हैं जो क्रम से एक दूसरे के सौ गुने हैं। *दस हज़ार, दस लाख* आदि शब्द उन्हीं से विनिर्गत हैं। हिन्दी की यह मूल संख्यावाचक शब्दावली बौद्धों की शतगुणोत्तर संख्यानामावली की स्मारक है। ललित-विस्तर नामक बौद्ध ग्रन्थ (१०० ईस्वी पूर्व) में गणितज्ञ अर्जुन और बोधिसत्व के संवाद में निम्न संख्याएं आई हैं।

200 सहस्र – 1 लक्ष, 100 लक्ष –१ कोटि, 100 कोटि –1 अयुत, १०० अयुत–१ नियुत

एक तो *अयुत* तथा *नियुत* शब्द वैसे ही उच्चारण साम्य के कारण कठिन थे, उपरोक्त सूची ने तो उनके मान भी कहीं से कहीं कर दिये इन कारणों से *अयुत, नियुत* आदि शब्द एकदम अप्रचलित हो गये।

लाख शब्द *लक्ष* का अपभ्रंश है। जैसे रक्ष से राख, कक्ष से कांख एवं पक्ष से पाख, उसी प्रकार *लक्ष* से *लाख* बना। सम्भव है कि *लक्ष* संख्या कभी गिनती क्रम में अंतिम रही हो। अतएव *कोटि* की भांति उसे *लक्ष (लक्ष्य)* शब्द से बाधित किया गया हो।

प्रथम प्रयोग : *लाख (लख)* शब्द का प्रथम प्रयोग चर्यापिटक में 100 कोटि वर्ष के अर्थ में हुआ, पुनः दाथावंस में वर्तमान अर्थ में प्रयुक्त हुआ।

परवर्ती प्रयोग : संस्कृत साहित्य में याज्ञवल्कय स्मृति, हरिवांश पुराण तथा ब्रह्मांड पुराण में *लक्ष* शब्द आया है। गणितीय पुस्तकों में इसका प्रयाग सर्वप्रथाम महावीर एवं श्रीधर ने किया। सम्भव है आर्यभट्ट तथा ब्रह्मगुप्त ने वैदिक शब्द होने के नाते *नियुत, प्रयुत* शब्दों का ही प्रयोग करना उचित समझा तथा *लक्ष* को अवैदिक एवं असंस्कृत साहित्य का होने के नाते ग्रहण न किया। इसी कारण जैन गणितज्ञ महावीराचार्य ने ही सम्भवतः इसका प्रचार किया। वैदिक साहित्य में *लक्ष* का अर्थ था जुए में लगाया हुआ धन।

***कोटि* अथवा *करोड़* :** *कोटि* शब्द कुट कौटिल्ये धातु से इ प्रत्यय लगा कर बना है। इसका शब्दार्थ है जो कुछ कुटिल किया जाय। धनुष के अग्र भाग को अतएव *कोटि* कहते हैं। जिस प्रकार *कोटि* धनुष का सिरा है उसी प्रकार *करोड़* भी कभी संख्याओं में अंतिम सिरे की संख्या समझी जाती

थी अतः उसे भी *कोटि* शब्द से व्यक्त किया गया। इसी *कोटि* से प्राकृत में *कोडि* बना। तदुपरान्त इस में निरर्थक र प्रत्यय घुस गया और उसने इसे *क्रोडि* बना दिया। शाप का भी इसी प्रकार श्राप शब्द बना। *क्रोडि* से पुनः *क्रोड़ि, करोड़ि, करौरि, करोर* एवं *करोड़* शब्द बने। वैदिक साहित्य में *कोटि* के लिए *अर्बुद* कहते थे। कटोर के अर्थ में *कोटि* शब्द सम्भवतः बौद्ध साहित्य से आया। जातक और कुल्लनिद्देस में *कोटि* शब्द प्रयुक्त हुआ है। संस्कृत साहित्य में वाल्मीकि रामायण, मनुस्मृति तथा याज्ञवल्क्य स्मृति में इसका प्रयोग हुआ है। वानरों की संख्या बताते हुए लिखा है :

शतैः शतसहस्रैश्य वर्तन्ते कोटिभिस्तथा
अयुतैश्चावृता वीर शंकभिश्च परंतप।

इस में *कोटि* शब्द का प्रयोग है किन्तु *लक्ष* का नहीं। इसी प्रकार आर्यभटीय में भी *लक्ष* का प्रयोग नहीं है देखिए:

एकं दश च शतं सहस्रमयुतनियुते तथा प्रयुतम्
कोट्यर्बदं च वृन्दं स्थानात्स्थानं, दश गुणांस्यात् [3:144]

उपरोक्त अवतरणों से यह प्रतीत होता है कि *लक्ष* शब्द *कोटि* के बहुत बाद संस्कृत में आया।

अरब : यह शब्द वैदिक *अर्बुद* शब्द का अपभ्रंश है। *अर्बुद* से *अर्ब* तथा *अर्ब* से *अरब* बना। *अर्बुद* का अर्थ था बादल। उस समय यह *करोड़* का वाचक था किन्तु जब *करोड़* के लिए बौद्ध काल में *कोटि* शब्द प्रचलित हो गया तब *अर्बुद* शब्द *अरब* के लिए चलने लगा। बौद्ध काल से सरलता की दृष्टि से परिभाषिक शब्दों का प्रयोग करते हुए *हज़ार, लाख* आदि के पहले *दश* शब्द लगाकर *दस हज़ार, दस लाख* आदि शब्द प्रचलित हो गये। *अर्बुद* जो *दस करोड़* का वाचक था *एक अरब* का वाचक बन गया।

खरब, नील, पदम तथा शंख : अमर कोष में कुबेर की नवनिधियों के निम्नलिखित नाम दिये हैं:

महापद्मश्च पद्मश्च शंखो मकर कच्छपौ
मुकुन्दकुन्दनीलाश्च खर्वश्च निधयो नव [3: 144]

इसमें *खर्व, नील, पद्म* और *शंख* शब्द आये हैं। सम्भव है कि कुबेर की निधि समझकर किसी बौद्ध विद्वान ने इनको संख्या स्थानों के लिए प्रयुक्त कर दिया हो। अभिधानप्य दीपिका नामक पाली व्याकरण में कुमुद पुंडरीक तथा *पद्म* का उल्लेख है। *खर्च* का अर्थ छोटा कमल तथा *नील* का अर्थ नील कमल है।

शंख : यह वाल्मीकि रामायण, ब्रह्मांड-पुराण में प्रयुक्त हुआ है। गणितज्ञों में सर्वप्रथम महावीराचार्य ने *शंख* तथा महाशंख शब्दों का प्रयोग किया। यदि देखा जाये तो वर्तमान उच्च संख्याओं के शब्द महावीराचार्य (820 ईस्वी) की शब्दावली पर आधारित प्रतीत होते हैं, यद्यपि उनमें कुछ अर्थ-परिवर्तन हुआ है। ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में भारत सदैव संगठित रहा है तथा उत्तर-दक्षिण एवं धर्मगत उस में कभी भेदभाव नहीं रहा। इस तथ्य का यह एक ज्वलन्त प्रमाण है।

हिन्दी में प्रचलित संख्यावाचक शब्दों की व्युत्पत्ति विस्तारपूर्वक अध्ययन किये जाने के फल-स्वरूप यही निष्कर्ष किया जा सकता है-

सर्वप्रथम हिन्दी में प्रचलित संख्यावाचक शब्दों की व्युत्पत्ति विस्तारपूर्वक अध्ययन करने से यह स्पष्ट हुआ है कि हिन्दी की वर्तमान संख्यावाचक शब्दों की पृष्ठभूमि प्राचीन भारत की गणितीय शब्दावली का सृजन वैदिक काल से ही प्रारंभ हो गया है।

विश्वसनीय सूत्रों से यह पता चला है कि सम् उपसर्ग पूर्वक ख्या (प्रकथने) धातु से संख्या शब्द बना है। प्रकथन का अर्थ है नाम निर्देश करना। गिनतियों के भावों के नाम होने के कारण इनको संख्या शब्द से व्यक्त किया गया है। संख्या और

अंक में पर्याप्त अन्तर है जैसे 25 संख्या है जो 2 और 5 अंकों से मिलकर बनती है किन्तु अंक का भी प्रयोग कभी-कभी संख्या के अर्थ में किया जाता है जैसे अंकगणित तथा गुणांक में यह प्रयुक्त हुआ है।

वर्तमान संख्याओं के एक से लेकर सौ तक के हिन्दी नाम साक्षात् वेदों से उद्भूत हैं। उन्नीस, उनतीस, उनतालीस, उनचास, उनसठ, उनहत्तर, उनासी, नवासी, निनानवे - इन संख्याओं के वाचक शब्द वैदिक साहित्य में ही दो प्रकार के थे। एक वे जो आगे की दश की गुणज संख्या में 1 कम कहकर बोधित किए थे तथा दूसरी वह जो पिछली दश की गुणज संख्या में 9 जोड़ने से व्यक्त किए थे।

हिन्दी में प्रचलित वर्तमान उन्नीस, उनतीस, उनतालीस, उनचास, उनसठ, उनहत्तर यह शब्द प्रथम क्रम के संबंधित हैं और नवासी तथा निन्यान्वे द्वितीय क्रम के स्मारक हैं।

संख्याओं का आविष्कार कब हुआ है इसका बताना अति कठिन है। किन्तु भारतवर्ष में ही इस ज्ञान का प्रादुर्भाव हुआ यह निर्विवाद है। क्योंकि प्राचीनतम वैदिक साहित्य में एक, द्वि, दश, शत, सहस्र, अयुत, नियुत, प्रयुत, अर्बुद आदि संख्याओं के नाम मिलते हैं।

संख्याओं के बोलने और लिखने का क्रम एक दूसरे से विपरित होता है। कहा जाता हैं पंचदश (15) किन्तु लिखने में पहले दस फिर पाँच लिखा जाता है अर्थात् 15 । संस्कृत का यही क्रम अंग्रेज़ी में भी पाया जाता है अर्थात् वहाँ भी बोलने में सिक्सटीन और लिखने में 16 लिखा जाता है। यही क्रम प्रायः अन्य भाषाओं में भी है।

संदर्भ-ग्रंथ

1. अज़ाद शमातोव, हिन्दी भाषा का प्रामाणिक व्याकरण, ताश्कंद, 2010. (उज्बेकी में)
2. अज़ाद शमातोव, दक्षिणी एशिया की भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन, ताश्कंद, 2003 (उज़बेकी में).
3. ब.ल.उपाध्याय, प्राचीन भारतीय गणित (ऐतिहासिक, सांस्कृतिक तथा भाषाशास्त्रीय अध्ययन), दिल्ली 1978.
4. धीरेंद्र वर्मा, हिन्दी भाषा का विकास, दिल्ली, 1962.
5. भोलानाथ तिवारी, हिन्दी भाषा इलाहाबाद, 1972.
6. आ. सुप्रुन, संख्यावाचक विशेषण, मास्को, 1992 (रूसी में)

एसोसिएट प्रोफ़ेसर,
ताशकंद सरकारी प्राच्य विद्या विश्वविद्यालय,
उज़बेकिस्तान

9

रामकथा : भारतीय समाज का पथ-प्रदर्शक

डॉ. सुलोचना दास

तुलसी-साहित्य का अध्ययन करते हुए एक प्रश्न सहज ही मानस में कौंध उठता है कि आज के विश्वव्यापी भूमंडलीकरण और उत्तर-आधुनिकता के इस दौर में मध्यकालीन कवि तुलसी और उनके साहित्य की आवश्यकता क्यों है? क्या आज पाठ्यक्रम में तुलसी को रखा जाना औचित्यपूर्ण है अथवा नहीं?

वस्तुतः इन प्रश्नों का उत्तर तो हमें तुलसी-साहित्य में विद्यमान तदयुगीन सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश के अध्ययनोपरांत ही मिल सकता है। तुलसी का साहित्य मध्यकालीन उत्तर-भारत का सबसे प्रामाणिक संदर्भ कोश है। उसमें मध्यकालीन समाज अपनी पूरी करालता के साथ हरकत करता है। तुलसी ने 'रामचरितमानस', 'कवितावली', 'दोहावली', 'गीतावली', 'विनयपत्रिका' आदि में जिस कलियुग का वर्णन किया है वह पौराणिक कलियुग का उल्लेख न होकर, उन्हीं की आंखों देखी मध्यकालीन सामाजिक वीभत्सता रूपी कलियुग का चित्रण है। तुलसी का समकालीन समाज अनेक प्रकार की विषमताओं से त्रस्त था, दुःख-दारिद्रय से पीड़ित था, राजा कृपालु नहीं थे, अकाल-महामारी आदि का अकांड तांडव चल रहा था। समाज के इसी भयावह और विकराल रूप का चित्रण तुलसी ने कलि-वर्णन के माध्यम से किया है। डॉ. रामकुमार वर्मा की भी इस तथ्य से सहमति है- "तुलसीदास ने मानस के उत्तरकांड में कलियुग का जो वर्णन किया है, वह उन्हीं के समय की तत्कालीन परिस्थिति थी। उस अंश को पढ़कर ज्ञात होगा कि कवि के मन में समाज की उच्छृखंलता के लिए कितना क्षोभ था।"[1]

मध्ययुगीन समाज जाति-प्रथा, संप्रदायवाद, छुआछूत, ब्राह्मणवादी मानसिकता, वर्ग-व्यवस्था, वर्ग-व्यवस्था आदि से बुरी तरह त्रस्त था। समाज वर्ग-व्यवस्था के नाम पर दो वर्गों- उच्च और निम्न में विभक्त था। उच्च वर्ग के अन्तर्गत सामंत आते थे, जो निम्न वर्ग के साथ पशु से भी बदत्तर व्यवहार किया करते थे। निम्न वर्ग को सदैव अपमानित होना पड़ता था, लज्जित होना पड़ता था। वे दिन-रात जी-तोड़ मेहनत करने के बावजूद अपना भरण-पोषण नहीं कर पाते थे। सामंत प्रभुत्वशाली वर्ग था। समाज पर उनका दबदबा होने के कारण वे उपभोक्ता भी थे। सामान्य जनता इनके चंगुल में फंसी बुरी तरह से छटपटा रही थी। आर्थिक असमानता के कारण निर्धन जनता को सदैव अपमानित होना पड़ता था। उन्हें दर-दर भटकना पड़ता था।

मध्यकालीन समाज सामंती शोषण से त्रस्त होने के साथ ही वर्ण-व्यवस्था से भी पीड़ित था। युगीन समाज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चार वर्णों में विभक्त था। सामंतों के समान ही ब्राह्मणों को भी श्रेष्ठ समझा जाता था। अतएव समाज पर उनका भी वर्चस्व था। जनेऊ धारण का अधिकार

मात्र ब्राह्मणों को ही था, शूद्र तो दूर की बात है उनसे मिलती-जुलती जातियों को भी यह अधिकार न था। ब्राह्मण वर्ग में पोथी-ज्ञान तो अवश्य था, किन्तु उसके अनुरूप उनका आचरण न था। वे बाह्याडंबर और अंधविश्वास को बढ़ावा देकर अपनी स्वार्थ-साधना में लगे रहे और सामान्य जनता इन सबका शिकार बनती रही। अंधविश्वासों में नरबलि सबसे कारुणिक और दिल दहला देने वाली थी। दरअसल ब्राह्मण अपने अधिकारों का दुरुपयोग कर रहे थे। फलतः सामाजिक मर्यादा पतन के कगार पर जा पहुंची। इसी ओर संकेत करते हुए तुलसी का कथन है-

"कलिमल ग्रसे धर्म, सब लुप्त भए सदग्रंथ !
दंभिन्ह निज मत कल्पि करि प्रगट किए बहुपंथ !!"[2]

अनेक वर्गों, वर्णों में विभक्त हिन्दू समाज में जाति-प्रथा के नाम पर ब्राह्मण निम्न वर्गों को खुले तौर पर गागर छूने का अधिकार भी नहीं देते थे, किंतु छिपे तौर पर वेश्याओं को अंकशायिनी बनाए हुए थे। ऐसा करने में उन्हें तनिक भी लज्जा महसूस नहीं होती थी, क्योंकि उनकी दृष्टि में निम्न वर्ग 'उपभोग की वस्तु' मात्र थे। ब्राह्मणों से ही मिलती-जुलती स्थिति क्षत्रियों की भी थी। 'क्षत्रिय को प्रण जुद्ध जुआ' वाली उक्ति पूर्णतः विलासिता में परिवर्तित हो चुकी थी। अर्थात् ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों के द्वारा शूद्रों का शोषण जोरों से हो रहा था, क्योंकि ये लोग साधन-विहीन थे-

"जीविका विहीन लोग सीधमान सोचवस !
कहैं एक एकन सों कहां जाइ का करी !!"[3]

मध्यवर्ग के अंतर्गत मुख्य रूप से व्यवसायी आते थे, जिनका जीवन सरल और संयमयुक्त था। किन्तु सबसे दयनीय और त्रासद स्थिति तो समाज के निम्न वर्ग अर्थात् किसान, मजदूर, शूद्र आदि की थी। मध्यकालीन समाज-व्यवस्था में किसानों की त्रासद स्थिति पर टिप्पणी करते हुए ओम प्रकाश त्रिपाठी का मंतव्य है "समाज का उत्पादक वर्ग होते हुए भी उनकी आर्थिक दशा अत्यंत खराब थी। ऐसे लोग भूखे रहकर अपना जीवन बीताने के लिए बाध्य थे। अतिवृष्टि, अनावृष्टि, शासकों की अक्षमता और निरन्तर युद्ध के कारण इस वर्ग की कमर टूटती गई। महामारियों की विभीषिका का और भयावह प्रभाव इस वर्ग पर विशेष रूप से पड़ा, क्योंकि ये साधन विहीन थे।"[4]

उपर्युक्त विवेचन मध्यकालीन समाज व्यवस्था को समझने के लिए पर्याप्त है। यह तो 16वीं 17वीं शताब्दी का समाज था। किन्तु आज की आधुनिक समाज-व्यवस्था क्या इससे भिन्न है? आज भी हमारे समाज वर्ण-व्यवस्था से आक्रांत हैं। ब्राह्मणवादी मानसिकता का वर्चस्व उत्तर-आधुनिक समाज पर भी बना हुआ है। ब्राह्मणों की दृष्टि में शूद्र आज भी 'भोग की वस्तु' ही हैं। वे शूद्रों से प्रेम के नाम पर उनका शारीरिक भोग तो कर सकते हैं, पर उससे विवाह करने में उनकी जाति और धर्म की हानि होने लगती है। वर्ग-व्यवस्था का वर्चस्व भी जस का तस ही बना हुआ है। आज सामंत तो नहीं किन्तु पूंजीपतियों का आधिपत्य अवश्य छाया हुआ है। समाज उच्च वर्ग, मध्य वर्ग और निम्न वर्ग में विभक्त हो चुका है। उच्च वर्ग पूंजी के बल पर निम्न वर्ग का खून चूस रहा है, उनका शोषण कर रहा है और मध्य वर्ग त्रिशंकु की जिंदगी जी रहा है।

भूमंडलीकरण की नीति विश्व को एक 'बाजार' में तब्दील कर देने की थी और बाजार

की मंशा हर चीज को 'कॉमोडिटी' में बदल देने की, यहां तक कि मानवीय संबंधों और मानवीयता को भी। इस उद्देश्य में वह पर्याप्त सफल रहा है। ऐसे में तुलसी-साहित्य पहले से कहीं अधिक प्रासंगिक ही नहीं अनिवार्य हो उठता है। गोस्वामीजी वर्णाश्रम व्यवस्था की पुनर्प्रतिष्ठा पर बल देते हैं, जो कि कर्म पर आधारित है न कि जन्म पर। जन्म, जाति या धर्म से कोई भी व्यक्ति श्रेष्ठ नहीं बनता, अपितु कर्म से बनता है। गोस्वामीजी शील, शक्ति, विद्या और बुद्धि के आधार पर समाज में उच्च-निम्न श्रेणियों का होना आवश्यक मानते थे। राजा-प्रजा, गुरु-शिष्य, सेवक-स्वामी, अफसर-मातहत आदि का होना भी अनिवार्य है। सभी को अपने-अपने कर्तव्यों का पूर्ण निष्ठापूर्वक पालन करना चाहिए क्योंकि **"वचन व्यवस्था और भाव व्यवस्था के बिना कर्म व्यवस्था निष्फल होती है।"**[5]

यदि बड़े छोटों के प्रति दुःशील होकर हर समय दुर्वचन कहने लगें, यदि छोटे बड़ों का आदर-सम्मान छोड़कर उन्हें डांटने-फटकारने लगें तो समाज चल ही नहीं सकता। इसी से शूद्रों का द्विजों का आंख दिखाकर डांटना, मूर्खों द्वारा विद्वानों का उपहास करना आदि गोस्वामीजी को समाज में धर्म शक्ति का ह्रास जान पड़ा। इसलिए वे 'रामराज्य' की परिकल्पना करते हैं जो कोई यूटोपिया न होकर मध्यकालीन लोकमत और लोकचित्त का अनुभव-प्रसूत आदर्श राज्य है।

दरअसल वर्णाश्रम व्यवस्था के समर्थक तुलसी की दृष्टि में मध्यकालीन समाज में व्याप्त अराजक स्थितियों के मूल में वर्णाश्रम धर्म का ह्रास था। इस कारण वे कर्म-संस्कृति को प्रधानता देते हुए वर्णाश्रम धर्म की पुनर्प्रतिष्ठा पर बल देते हैं। फलतः उनके राम निषादराज गुह का आलिंग्न करते हैं, अपमान नहीं। शबरी जैसी निम्न जाति की स्त्री के जूठे बेर बड़े प्रेम से ग्रहण करते हैं। सुग्रीव, विभीषण आदि को अपने मित्र का स्थान देते हैं तो हनुमान को अपने प्रिय सेवक का। चित्रकूट में केवट अपनी छोटाई के विचार से वशिष्ठ जैसे ऋषि को दूर से ही प्रणाम करता है, किंतु ऋषि वशिष्ठ अपने हृदय की उच्चता का परिचय देते हुए उसे गले लगा आशीर्वाद देते हैं। यहां तक कि भरत भी बिना किसी भेद-भाव के उसे सप्रेम अपनी छाती से लगा लेते हैं-

"लोकवेद सब भाँति हिं नीचा !
जासु छाँह छुइ लेइअ सींचा !!
तेहि भरि अंक राम लघु भ्राता !
मिलत पुलक परिपूरित गाता !!"[6]

गोस्वामीजी की वर्ण-व्यवस्था का स्पष्टीकरण करते हुए आचार्य शुक्ल लिखते हैं- "वे व्यक्ति की स्वतंत्रता का हरण नहीं चाहते जिसमें व्यक्ति इच्छानुसार हाथ पैर भी नहीं हिला सके, अपने श्रम, शक्ति और गुण का अपने लिए कोई फल ही न देख सके। वे व्यक्ति के आचरण का इतना ही प्रतिबंध चाहते हैं जितने से दूसरों के जीवनमार्ग में बाधा न पड़े और हृदय की उदात्त वृत्तियों के साथ लौकिक संबंधों का सामंजस्य बना रहे। राजा-प्रजा, उच्च-नीच, धनी-दरिद्र, सबल-निर्बल, शास्य-शासक, मूर्ख-पंडित, पति-पत्नी, गुरु-शिष्य, पिता-पुत्र इत्यादि भेदों के कारण जो अनेकरूपात्मक संबंध प्रतिष्ठित हैं, उनके निर्वाह के

अनुकूल मन (भाव), वचन और कर्म की व्यवस्था ही उसका लक्ष्य है, क्योंकि इन संबंधों के सम्यक निर्वाह से ही वे सबका कल्याण मानते हैं। इन संबंधों की उपेक्षा करने वाले व्यक्ति-प्राधान्य वाद के वे अवश्य विरोधी हैं।"[7]

इसी कारण गोस्वामीजी के चरित नायक परब्रह्म राम और अन्य आदर्श पात्र शूद्र या निम्न वर्गों का अपमान एवं शोषण नहीं करते, अपितु उसके प्रति स्नेह का भाव रखते हैं क्योंकि वे भी मनुष्य हैं 'वस्तु' नहीं। अर्थात् तुलसी ने राम आदि पात्रों के माध्यम से वर्ण-व्यवस्था से आक्रांत समाज के समक्ष एक आदर्श की स्थापना की है। जो समाज जाति-प्रथा के नाम पर शूद्रों का शोषण करती है, उसे भक्ति के अधिकार से भी वंचित रखती है उनके मुंह पर तुलसी ने राम के चरित्र के द्वारा करारा तमाचा मारा है। तुलसी ने सामाजिक व्यवस्था के अंतर्गत सबके लिए जो अलग-अलग कर्म निर्धारित किए, वे वस्तुतः मर्यादा को बनाए रखने एवं समाज को सुव्यवस्थित करने की दृष्टि से थे-

"बरनाश्रम निज निज धरम निरत बेद पथ लोग !
चलहिं सदा पावहिं सुखहि नहिं भय सोक न रोग !! [8]

समाज को सुखी एवं संपन्न बनाने की दृष्टि से वर्णाश्रम व्यवस्था को उचित ठहराया गया है। अतएव समाज का सामान्य या साधारण नियम यह हुआ कि लोग अपने लिए बंधी मर्यादा का पालन करें, कोई किसी दूसरे के अधिकार में दखल न दे। परंतु जब कोई अपने कर्तव्यों से, दायित्वों से च्युत हो जाए तो उसके लिए समाज में दंड की भी व्यवस्था करनी पड़ती है। हमारा आधुनिक समाज तुलसी की वर्णाश्रम व्यवस्था को अपना तो लेता है किंतु गोस्वामीजी के आदर्शों और वर्णाश्रम धर्म के मूल में निहित उद्देश्यों को भूला देता है। आज के समाज के लिए उसका अपना स्वार्थ अहम् हो उठा है। वह उसी मर्यादा का पालन करता है, जिसमें उसका अपना स्वार्थ निहित हो। ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख से जन्म लेने के कारण स्वयं को श्रेष्ठ और देव-तुल्य मानते हैं। कर्मकांड के नाम पर आज के धनलोलुप ब्राह्मण सामान्य जनता को ठगना अपना सर्वोपरि धर्म और कर्म समझते हैं। ये ब्राह्मणगण किसी अनुष्ठान अथवा पूजा-विधि आदि को संपन्न कराने हेतु पहले यजमान से अपनी दक्षिणा फिक्स करवाते हैं। अधिक से अधिक दान-दक्षिणा पाने के लिए ये अपना भाव-बट्टा तक करते हैं। तदुपरांत पूजा-विधि के दौरान प्रत्येक कर्म पर अधिक से अधिक चढ़ावा चढ़ाने की मांग करते हैं। ऐसा न करने पर अनिष्ट होने का भय भी दिखाते रहते हैं। काल सर्प दोष अथवा अन्य दोषों से मुक्ति दिलाने का दावा कर ये धन तो ऐंठते ही हैं, साथ ही अपनी काम-वासना की तृप्ति का मार्ग भी ढूंढ लेते हैं। ये ब्राह्मण जाति-प्रथा के नाम पर अपने लिए शूद्र अथवा निम्न जाति के घर का पानी तक निषेध मानते हैं, किंतु उनके धन और स्त्री-भोग का निषेध नहीं करतें।

आज की ब्राह्मणवादी मानसिकता कई बार इस तथ्य का उल्लेख करती हुई दिखाई पड़ती है कि 'गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है कि कलियुग में ब्राह्मणों का कार्य शूद्र करेंगे'-

"पहन जनेऊ गले में हरिजन,
गीता ज्ञान सुनायेगा !"[9]

तुलसी ने मानस में दहेज-परंपरा को भी इंगित किया है। राजा जनक सीता, मांडवी, उर्मिला और श्रुतिकृति के विवाह में बहुमूल्य रत्न,

पदार्थ आदि स्वेच्छा से उपहार स्वरूप भेंट करते हैं। किंतु आज लड़की के पिता के लिए अधिक से अधिक धन देना एक बाध्यता हो गयी है। अन्यथा वह अपनी सुशिक्षित एवं सुसंस्कृत कन्या हेतु योग्य वर की प्राप्ति नहीं कर सकता है। दहेज-प्रथा ने तो आज विकराल रूप ही धारण कर लिया है। दहेजाग्नि में आए दिन बहु-बेटियों को होम होना पड़ रहा है। राम और सीता का विवाह एक तरह से देखा जाय तो प्रेम विवाह है। क्योंकि स्वयंवर से पूर्व ही राम-सीता के प्रथम दर्शन पुष्पवाटिका में हुए, दोनों के नेत्र मिले और हृदय में प्रेमांकुर प्रस्फुटित हुआ-

"लोचन मग रामहि उर आनी !
दीन्हे पलक कपाट सयानी !!
जब सिय सखिन्ह प्रेमबस जानी !
कहि न सकहिं कछु मन सकुचानी !!"[10]

इसी कारण सीता स्वयंवर से पहले माता गौरी की पूजा कर राम को पति रूप में पाने हेतु प्रार्थना करती है-

"मोर मनोरथु जानहु नीकें !
बसहु सदा उर पुर सबही कें !!
कीन्हेउँ प्रगट न कारण तेहीं!
अस कहि चरन गहे बैदेहीं !!"[11]

उसी राम-सीता की पूजा-अर्चना करने वाला हमारा भारतीय समाज प्रेम-विवाह को अनैतिक ठहराता है। तुलसी ने मानस में बहुपत्नीवाद की प्रथा का भी चित्रण किया है। मुगल संस्कृति में शासकगण अपने हरम में अधिकाधिक पत्नियां रखते थें। उनमें से न जाने कितनी तो पत्नी होते हुए भी पत्नी-सुख से वंचित रहती थीं। यह संस्कृति हमारे भारतीय समाज में अनादिकाल से विद्यमान थी। इतिहास साक्षी है कि एक से अधिक पत्नी रखना राजाओं के लिए गौरव और पौरुष की बात थी। तुलसी ने मानस में दिखाया है कि राजा दशरथ का अंत कहीं न कहीं बहुपत्नीवाद की प्रथा के कारण ही हुआ तो रावण का विनास भी इसी प्रथा की देन है। मंदोदरी जैसी सुंदर पत्नी के होते हुए भी रावण पर-स्त्री सीता के प्रति आकर्षित हो उसे अपनी पत्नी का स्थान देना चाहता है, जो उसके अंत का कारण बना। भारतीय समाज से बहुपत्नीवाद की प्रथा को समाप्त करने के लिए ही तुलसी ने राम को एक पत्नीव्रत धर्म का पालन करते हुए दिखाया है। तुलसी के आदर्श रामराज्य में सभी पुरुष गुणग्राहक एवं एक पत्नीव्रत थे। स्त्रियां भी पातिव्रत धर्म में लीन थीं। स्त्रियों का चारित्रिक स्खलन किसी भी स्तर पर गोस्वामीजी को स्वीकार्य न था। गौतम ऋषि की पत्नी अहल्या का इन्द्र द्वारा छल से सतीत्व भंग किया गया। फिर भी उसे क्षमा नहीं, शिला में परिवर्तित होने का कठोर अभिशाप मिला। सूर्पनखा जब राम और लक्ष्मण से अनुचित प्रणय निवेदन करती है, तो तुलसी ने उसे भी लक्ष्मण द्वारा दंडित करवाया है। यहां तक कि सीता को भी अग्निपरीक्षा देनी पड़ी। अग्निपरीक्षा देने के बावजूद भी सीता पति परित्यक्ता बनी, क्योंकि रावण ने उसका हरण कर अपने यहां बंदी बनाकर रखा था। मात्र इस आधार पर सीता को अपवित्र समझा गया और राम सत्य जानते हुए भी राज-धर्म हेतु जनक-सुता का त्याग कर देते हैं। इस तरह से जनक नंदनी का त्याग किया जाना वास्तव में इस तथ्य को दर्शाता है कि स्त्री का संदेहास्पद रूप में भी कलंकित होना भारत की सामाजिक मर्यादा के विरुद्ध है। जबकि आज की उत्तर-आधुनिक मानसिकता पाश्चात्यीकरण के कारण इस तथ्य को स्वीकार नहीं करती। स्त्री-विमर्श के समर्थकों का मानना है

कि जब पुरुषों में यौन-शुचिता नहीं मिलती तो स्त्रियों से इसकी अपेक्षा क्यों? यदि उसका पति पर-नारी-संसर्ग का आकांक्षी है तो वह क्यों नहीं? परिणामतः कौमार्य, सतीत्व, पातिव्रत जैसी अवधारणाएं अब आधुनिक नारी के संदर्भ में अप्रासंगिक हो गए हैं। वास्तव में यह यौन-स्वतंत्रता पुरुषों की भोग-लिप्सा अधिक है, नारी का अधिकार कम। इसी कारण तुलसी ने **'जिमि स्वतंत्र होइ बिगरहिं नारी'** कहा है। नारी जब पथ-भ्रष्ट हो जाती है तो वह अपने पतन के साथ-साथ समाज के पतन का भी कारण बनती है! नारी में इतनी क्षमता है कि वह पुरुषों को अपने नियंत्रण में रख सकती है, क्योंकि नारी शक्ति-स्वरूपा है। उसे मात्र **'माया'** या **'सांसारिकता'** मानना भूल है। तभी तो सीता की इच्छा के विपरीत रावण उसे स्पर्श तक नहीं कर पाता है। भले ही इसका हेतु रावण को मिला शाप था। किंतु तुलसी ने सीता के पातिव्रत के द्वारा यह प्रमाणित कर दिखाया है कि रावण जैसा पराक्रमी और शक्तिशाली पुरुष भी स्त्री की इच्छा के बिना उसे प्राप्त नहीं कर सकता और ऐसा करने के अनुचित प्रयास में वह अपना ही सर्वनाश कर बैठता है।

अतएव जो तुलसी को नारी विरोधी कहते हैं, उन्हें इस तथ्य को जानने और समझने की आवश्यकता है कि तुलसी का क्षोभ नारी के प्रमदा और कामिनी रूप के प्रति है, कल्याणकारी रूप के प्रति नहीं। वे उसकी स्वतंत्रता का हरण नहीं चाहते। तभी तो **"कत विधि सृजी नारि जगमाहीं ! पराधीन सपनेहु सुख नाहीं !!"**[12] कहकर नारी-जाति के प्रति अपनी करुणा प्रदर्शित की है। वास्तव में गोस्वामीजी जानते थे कि समाज को सुसंस्कृत नारी ही कर सकती है। सामाजिक मर्यादा की डोर पुरुष से कहीं अधिक नारी के हाथों में रहती है। मुगल संस्कृति में नारी 'भोग की वस्तु' मात्र बनकर रह गयी थी। उसका सृष्टिकारिणी रूप भोग-विलास के आवरण में कहीं दब गया था। नारी भी धन-लोलुपता आदि के कारण अपने शरीर को अपना साधन बनाने लगी थी। इसी कारण तुलसी ऐसी नारियों की निन्दा करते हुए उसे 'ढ़ोल', 'गंवार', 'शूद्र' और 'पशु' की श्रेणी में रखते हैं। उसे संसार में फंसाए रखनेवाली कहते हैं।

मध्यकालीन नारी की जो स्थिति थी वह आज भी वर्तमान है। आज की उपभोक्तावादी संस्कृति की चकाचौंध में पड़कर आधुनिक नारी अपने शरीर को सफलता के उच्च शिखर पर पहुंचने का साधन समझने लगी है। वह अपने सौन्दर्य और शारीरिक आकर्षण के द्वारा अपने लिए ऐशो-आराम, नाम, यश आदि सब कुछ प्राप्त तो कर लेती है, किंतु अपनी सभ्यता और संस्कृति को ही भूल जाती है। भूल जाती है कि परमात्मा ने नारी की रचना क्यों और किन उद्देश्यों से की है। राजपति दीक्षित के अनुसार- "भारतीयों ने शक्ति-उपासना में नारी-जाति का महत्व स्वीकार किया है। विदेशों में और विजातियों ने व्यवहार के क्षेत्र में नारी-जाति का वैसा सम्मान अतीत में कभी नहीं किया है। 'एवरी वुमन इज रेप ऐट हार्ट' भारत में मान्य नहीं रहा।"[13]

अतएव आज की उपभोक्तावादी दौर में तुलसी का नारी-विमर्श नवीन व्याख्याओं की मांग करता है। उनकी नारी-कल्पना अनुसंधान का स्वतंत्र विषय होने की क्षमा रखती है।

तुलसी ने रावण के राज्य का चित्रण कर तत्कालीन शासन-व्यवस्था पर प्रकाश डाला है। जब राजा स्वयं दुराचारी हो तो उसकी प्रजा भी वैसी ही हो जाती है। राज-समाज की भयानक लूट-मार, अनाचार, अत्याचार से प्रजा में त्राहि-त्राहि मच गई थी। इससे प्रजा भी पाखंड और पाप में लीन होकर मनमाने ढ़ंग से जीवन व्यतीत करने लगी। समाज से शांति, सत्य और व्यवस्था उड़ चुकी थी। उसमें छल-कपट एवं अनाचार का बोलबाला हो गया था। अर्थात् तत्कालीन राज्य-व्यवस्था में केवल दंड का विधान ही शेष रह गया था-

"गोंड गंवार नृपाल महि जमन महा महिपाल !
साम न दाम न भेद कलि केवल दंड कराल !!"[14]

वास्तव में **"चारित्रिक दृष्टि से तुलसी ने रावण को मध्यकालीन सम्राट के विद्रूप के रूप में प्रस्तुत किया है।"**[15] ऐसे रावण-राज्य से मुक्ति दिलाने के लिए ही गोस्वामीजी राम को आदर्श राजा के रूप में चित्रित करते हुए 'रामराज्य' की परिकल्पना करते हैं, जहां कोई दुःखी- द्ररिद्र नहीं, चारों तरफ सुख-संपदा का राज्य है। यहां तक कि प्रकृति और प्राणी भी एक दूसरे के सहयोगी बन गए हैं-

"फूलहिं फरहिं सदा तरु कानन !
रहहिं एक संग गज पंचानन !!
खग मृग सहज बयरु विसराई !
सवन्हि प्रस्पर प्रीति बढ़ाई !![16]

इसी कारण तुलसी के 'रामराज्य' को गांधीजी ने 'आदर्श राज्य' की संज्ञा प्रदान की तो डॉ. द्वारिका प्रसाद सक्सेना का कथन है- "तुलसी की यह आदर्श राज्य संबंधी विचारधारा भारतीय संस्कृति की नींव पर स्थित है....निस्संदेह संपूर्ण विश्व के लिए अनुकरणीय है।"[17]

तुलसी के आदर्श राज्य की संकल्पना का सबसे उन्नत रूप चित्रकूट की सभा में दिखायी पड़ता है। इस सभा में भरत, कौश्ल्या, कैकेकी, सुमित्रा के साथ संपूर्ण अयोध्यावासी तथा राजा जनक अपनी पत्नी सुनैना एवं समस्त पुरजन-परिजनों के साथ उपस्थित हैं तो साथ ही गुरु वशिष्ठ आदि भी उपस्थित हैं। सभा में उपस्थित सभी लोग चाहते हैं कि राम वापस लौट आए। किंतु राम यदि ऐसा करते हैं तो माता-पिता का अनादर होगा! भरत अगर राज्य संभालते हैं तो भी यह अनुचित होगा, क्योंकि भारतीय संस्कृति के अनुसार राज्य का उत्तराधिकारी ज्येष्ठ पुत्र ही होता है। राजा दशरथ की मृत्यु के पश्चात प्रजा का संपूर्ण दायित्व राम पर है और राम अपने इस दायित्व से मुंह नहीं मोड़ सकते हैं। इस गंभीर अवसर पर व्यक्ति की अपने व्यक्तिगत संदर्भ पर क्या प्रतिक्रिया होती है और सामुहिक संदर्भ पर व्यक्तिगत प्रतिक्रिया कैसे अनुशासित होती है- यह देखते ही बनता है। सभा में उपस्थित सभी लोगों की अपनी-अपनी चिन्ताएं हैं, उसे सोचने और व्यक्त करने के अपने-अपने ढ़ंग हैं। तुलसी ने इस सभा में छोटे-बड़े सभी को बोलने का समान अधिकार प्रदान दिया है, किंतु कहीं भी मर्यादा का स्खलन नहीं हुआ है। राम पिता की मृत्यु के उपरांत राज्य के उत्तरदायित्वों और पिता द्वारा दिए वचनों के कारण अंतर्द्वंद्व से घिर जाते हैं और अंततः मध्यम मार्ग का अनुसरण कर सारी दुविधाओं का समाधान करते हैं-

"राजधरम सरबसु एतनोई !
जिमि मन माहँ मनोरथ गोई !!

बंधु प्रबोधु कीन्ह बहु भांती !
बिनु आधार मन तोषु न सांती !!
भरत सील गुर सचिव समाजू !
सकूच सनेह बिबस रघुराज !!
प्रभु करि कृपा पाँवरी दीन्हीं !
सादर भरत सीस धरि लीन्हीं !!"[18]

चित्रकूट की इस सभा की मुक्तकंठ से प्रशंसा करते हुए आचार्य शुक्ल लिखते हैं- "चित्रकूट की उस सभा की कार्यवाही क्या थी, धर्म के एक-एक अंग की पूर्ण और मनोहर अभिव्यक्ति थी।...धर्म के इतने स्वरूपों की एक साथ उद्भावना तुलसी के ही विशाल 'मानस' में संभव थी।...भारतीय शिष्टता और सभ्यता का चित्र यदि देखना हो तो इस राजसभा में देखिए। कैसी परिष्कृत भाषा में, कैसी प्रवचन पटुता के साथ प्रस्ताव उपस्थित किए जा रहे हैं, कैसी गंभीरता और शिष्टता के साथ बात का उत्तर दिया जाता है। छोटे-बड़े की मर्यादा का किस सरसता से पालन होता है।"[19]

वास्तव में मुगलकालीन स्थिति में जब भारतीय संस्कृति का क्षरण हो रहा था, एक भाई द्वारा राजपाट हेतु दूसरे भाई की हत्या हो रही थी, वहां तुलसी का चित्रकूट प्रसंग एक आदर्श की स्थापना करता है। भारतीय संस्कृति के विमर्श को प्रस्तुत करता है। साथ ही चित्रकूट की इस सभा में पहली बार गणतंत्र की परिकल्पना भी साकार होती है।

दूसरी ओर गोस्वामीजी राम और राम परिवार के माध्यम से गार्हस्थ-जीवन का आदर्श स्वरूप भी उपस्थित करते हैं, क्योंकि परिवार समाज की सुदृढ़ इकाई है। पारिवारिक जीवन की सुख-समृद्धि ही सामाजिक-उत्थान की आधारशिला है। भारतीय संस्कृति 'सम्मिलित परिवार' शैली का समर्थन करती है। अतएव भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के उदगाता "तुलसीदास उसी भारतीय परंपरा के अनुगामी या अपने समय के अनुरूप उसी के समर्थक हो सकते थे जिसको आजकल की विलायती शब्दावली में समाज का सम्मिलित परिवार (ज्वाइनट फ़ेमिली) प्रकार कहते हैं, पर 'फ़ेमिली' की सीमा छोटी- 'स्व' की सीमा तक है और 'परिवार' की सीमा बड़ी- 'स्व' की सीमा पार कर 'पर' की सीमा तक है। भारतीय 'परिवार' संघटन-शैली के द्वारा 'घर' में ही 'बाहर' की, व्यष्टि में ही समष्टि की, 'स्व' के साथ 'पर' की, थोड़े में या एक शब्द में धर्म की शिक्षा देती है। इसी से सामाजिक तुलसीदास ने 'परिवार' पर विशेष ध्यान दिया है।"[20]

आज के आधुनिक समाज में एकल परिवार की संकल्पना को पर्याप्त महत्व मिलने लगा है। प्रत्येक व्यक्ति 'स्व' में इतना सिमट गया है कि उसके लिए 'फ़ेमिली' का अर्थ ही है- पति-पत्नी और बच्चे। माता-पिता, भाई-बहन, चाचा-चाची आदि उसकी फ़ेमिली का अंग नहीं बन पाते हैं। परिणामतः वह अकेलेपन के दंश से पीड़ित हो उठता है। स्वयं को अकेला समझ-पाकर वह कुंठित होने लगता है और अंततः मृत्यु के द्वार पर जा पहुंचता है। ऐसे में गोस्वामीजी के गार्हस्थ-जीवन का आदर्शत्व ही आज के दिशाहीन मनुष्यों के सही दिशा-निर्देशन में सक्षम हो सकता है। उनकी आदर्श पारिवारिक व्यवस्था में दशरथ आदर्श पिता हैं जिनका सभी पुत्रों पर एक समान प्रेम है-

"एक पिता के विपुल कुमारा !

होहिं पृथक गुन सील अचारा !!

XXX

कोउ सर्वज्ञ धर्मरत कोई !

सब पर पितहिं प्रीति सम होई !!"[21]

कैकेकी अपने भरत से अधिक राम को स्नेह करती है| राम, भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न में भ्रातृ प्रेम की पराकाष्ठा दिखाई पड़ती है| राम के वनागमन के समय लक्ष्मण उनके साथ ही जाते हैं तो भरत ननिहाल से वापस आने के उपरांत श्रीराम को वापस अयोध्या लाने हेतु चित्रकूट की ओर प्रस्थान करते हैं और मार्ग में प्रयागराज से हाथ जोड़कर वरदान मांगते हैं-

"अरथ न धरम न काम रूचि गति न चहुउँ निरबाना !

जनम-जनम रति राम पद यह वरदानु न आना !![22]

इस तरह गोस्वामीजी 'मानस' में भाई-भाई, माता-पुत्र, पति-पत्नी, पिता-पुत्री आदि के साथ ही लालित-पालित पशु-पक्षियों एवं दास-दासियों के संबंधों और उनके निर्वाह की जैसी झलक दिखाते हैं उसमें सम्मिलित परिवार शैली का पूर्ण समर्थन निहित है। अतएव आज के एकल पारिवारिक जीवन के सम्मुख तुलसी ने वैयक्तिक और पारिवारिक आदर्शों का एक स्वस्थ रूप प्रस्तुत किया है। वासुदेव सिंह के शब्दों में "टूटते हुए पारिवारिक संबंधों और क्षुद्र स्वार्थों के लिए संघर्षशील मनुष्यों को उन्होंने आलोक प्रदान किया है। एक आदर्श पारिवारिक व्यवस्था कैसी हो सकती है...इसकी दीक्षा हमें रामकाव्य से मिलती है।"[23]

वास्तव में देखा जाय तो तुलसी-साहित्य वर्तमान अस्त-व्यस्त जीवन और विश्रृंखल सामाजिक-व्यवस्था का उचित मार्ग-दर्शन करने में पर्याप्त सक्षम है। आवश्यकता है तो उसे मध्यकालीन भक्ति-आन्दोलन के आवरण से मुक्त करके देखने की। तुलसीकृत 'मानस' केवल धर्मग्रंथ न होकर 'जीवन की व्यवस्था' है, भारतीय संस्कृति की पहचान है।

संदर्भ सूची :

1. वर्मा, रामकुमार, हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2010, पृष्ठ 443
2. दास, तुलसी, रामचरितमानस, उत्तरकांड, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं० 2050, पचीसवाँ सं., पृष्ठ 925
3. दास, तुलसी, कवितावली, उत्तरकांड, गीताप्रेस, गोरखपुर, 2017, पृष्ठ 116
4. त्रिपाठी, ओम प्रकाश, संत साहित्य और लोकमंगल, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1993, पृष्ठ 54
5. शुक्ल, रामचन्द्र, गोस्वामी तुलसीदास, इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग, संशोधित सं 1935, पृष्ठ 45
6. दास तुलसी, रामचरितमानस, अयोध्याकांड, पृष्ठ 457
7. शुक्ल रामचन्द्र, गोस्वामी तुलसीदास, पृष्ठ 54
8. दास तुलसी, रामचरितमानस, उत्तरकांड, पृष्ठ 859
9. अग्रवाल कैलाशचन्द्र, गृहस्थ गीता, गीताप्रेस, गोरखपुर, पृष्ठ 89

10. दास तुलसी, रामचरितमानस, बालकांड, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं० 2064, चौबीसवाँ पुनर्मुद्रण, पृष्ठ 185
11. वही, पृष्ठ 188
12. वही, पृष्ठ 88
13. सिंह उदयभानु, तुलसी, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005, पृष्ठ 151
14. दास तुलसी, दोहावली, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं० २०३८ तेईसवाँ सं, पृष्ठ 187
15. राय, लल्लन, तुलसी की साहित्य साधना, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2002, पृष्ठ 125
16. दास तुलसी, रामचरितमानस, उत्तरकांड, पृष्ठ 861
17. सक्सेना, द्वारिका प्रसाद, हिंदी के प्राचीन प्रतिनिधि कवि, अग्रवाल पब्लिकेशन्स, 2012, पृष्ठ 192
18. दास तुलसी, रामचरितमानस, अयोध्याकांड, पृष्ठ 554-555
19. राय, लल्लन, तुलसी की साहित्य साधना, पृष्ठ 74
20. सिंह, उदयभानु, तुलसी, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005, पृष्ठ 144
21. दास तुलसी, रामचरितमानस, उत्तरकांड, पृष्ठ 915-916
22. दास तुलसी, रामचरितमानस, अयोध्याकांड, पृष्ठ 466
23. सिंह कुंवरपाल, भक्ति आन्दोलन : इतिहास और संस्कृति, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली 2008, पृष्ठ 117

अध्यक्ष, हिंदी विभाग,
परिमल मित्र स्मृति महाविद्यालय,
मालबाज़ार, पश्चिम बंगाल

10

प्रेमचंद की कहानियों का मनोवैज्ञानिक आधार

डॉ. संजय कुमार

जीवन के यथार्थ को कहानी में कैसे पिरोएं प्रेमचंद को इसकी गहरी समझ थी। वे समाज, व्यक्ति और उसके परिवेश को कथा के केन्द्र में रखकर विभिन्न घटनाओं से कहानी का ताना-बाना बुनते थे। पुष्पपाल सिंह के अनुसार" प्रेमचंद ने कहानी को यथार्थ की प्रस्तुति का नया धरातल प्रदान किया। उन्होंने मनुष्य, समाज, व्यक्ति और उसके जीवन परिवेश को कथा के केंद्र में ला खड़ा किया।"[1] लेकिन प्रेमचंद ने अपने कथा परिवेश को घटनाओं के यथार्थ अंकन मात्र से हट कर माना और लिखा कि, "मैं घटनामात्र के वर्णन करने के लिए कहानियां नहीं लिखता। मैं उसमें किसी दार्शनिक और भावनात्मक सत्य हो प्रकट करना चाहता हूं। .... कोई घटना कहानी नहीं होती जब तक कि वह किसी मनोवैज्ञानिक सत्य को व्यक्त न करे।"[2]

जैनेन्द्र को हिंदी साहित्य का सर्वप्रथमिक मनोवैज्ञानिक कथाकार होने का श्रेय प्राप्त है। प्रेमचंद के बाद उन्होंने कथा साहित्य को एक नई दिशा दी। लेकिन जिस मनोवैज्ञानिक सत्य को जैनेन्द्र ने अपनी कहानियों में उजागर किया, उसे उनसे ठीक पहले प्रेमचंद ने भी सबसे उत्तम कहानी का आधार बताया था। मानसरोवर के प्राक्कथन में प्रेमचंद स्वयं लिखते हैं कि, "सबसे उत्तम कहानी वह होती है जिसका आधार किसी मनोवैज्ञानिक सत्य पर हो।[3]" साथ ही उन्होंने मनुष्य के चरित्र को उद्घाटित करना भी कहानीकार का उद्देश्य निश्चित किया –"कहानी में बहुत विस्तृत विश्लेषण की गुंजाइश नहीं होती वरन् कहानीकार का उद्देश्य मनुष्य चरित्र के अंग को दिखाना है।[4]"

लेकिन मनोविश्लेषण प्रेमचंद की कहानियों का साध्य नहीं है। वे मनोवैज्ञानिक सत्य का प्रयोग केवल विसंगतियों को विडंबनापूर्ण बनाने या अंतर्विरोध को मार्मिकता के साथ चित्रित करने में करते हैं। इसीलिए उनकी कहानियों में मनोविज्ञान या तो बाह्य कार्य-व्यापार से प्राप्त अनुभव है, या मनोवैज्ञानिक समस्याओं के समाधान में चुनने के प्रश्न को लेकर मन का एक ऊहापोह। उनके पात्र अपना मनोजागतिक संसार रच कर उस में बंध नहीं जाते और नहीं पूरी कहानी में आत्ममंथन करते प्रतीत होते हैं। प्रेमचंद कहानी में मानसिक ग्रंथि के अनुरूप घटनाओं का संयोजन नहीं करते ,बल्कि इसके उलट अनुभव और भाषा के माध्यम से मानव के मनोजगत के सत्य का अंकन करते हैं। उनके पात्रों का घात-प्रतिघात और अंतर्द्वन्द मुख्यत: बाह्य घटनाओं पर आधारित है।

व्यक्ति के अचेतन मन की समस्याओं को प्रेमचंद कहानी का विषय नहीं बनाते, क्योंकि उनकी दृष्टि व्यक्ति के मानसिक जगत में उलझने की अपेक्षा समाज के टूटते-बनते मूल्यों की टोह में अधिक रहती है। यही कारण है कि' मनोवृत्ति', 'नशा', 'ईदगाह', 'बेटों वाली विधवा', 'बड़े भाई साहब 'जैसी कहानियां जो परिस्थिति के अनुरोध के कारण मनोभावों के परिवर्तन या अंतर्द्वन्द को रेखांकित करती हैं, वे भी मूलतः बाह्य घटनाओं

पर टिकी हैं। इन कहानियों के पात्रों का मानसिक विचलन परिस्थितियों के वैषम्य को व्यंजित करता है।' बड़े भाई साहब 'में मानव मन के साक्ष्य आत्मीय संदर्भ में श्रेष्ठताबोध के कारण उभरते हैं, तो' नशा 'एवं' गुल्ली-डंडा 'में क्रमशः परिवेश एवं उम्र बदलने से स्वभाव परिवर्तित होता है। यद्यपि 'ईदगाह 'में बाल मनोविज्ञान को प्रदर्शित किया गया है, लेकिन यहां भी अर्थाभाव ने हामिद की मानसिक प्रवृत्तियों के लिए परिस्थिति निर्माण का कार्य किया है।' बेटों वाली विधवा 'में पति के मरने के बाद फूलमती जिस मानसिक तनाव को झेलती हुई आत्महत्या की परिणति तक जाती है उसका कारण भी घर में बेटों द्वारा रची गई परिस्थितियां ही हैं।

मानव के अंतरजगत की प्रेरणाओं को प्रेमचंद ने अपनी कहानी का आधार कम ही बनाया है। इसके विपरीत वे अपने पात्रों में बाह्य घटनाओं के आधार पर आंतरिक अनुभूतियों को खोज निकालते हैं। उनकी कहानियों में मनोभाव अपनी अभिव्यक्ति के लिए भाषा का मोहताज भी नहीं है ,क्योंकि कई स्थानों पर आंगिक चेष्टाएं और चेहरे के भाव ही अभिव्यक्ति का माध्यम बन जाते हैं, जैसा कि' अलग्योझा 'में अबोध झुनिया के हाव-भाव में दिखाया गया है- ''झुनिया सबसे छोटी थी। उसकी व्यंजना शक्ति उछल कूद और नेत्रों तक परिसीमित थी – तालियां बजा-बजा कर नाच रही थी।[5]''

'मनोवृत्ति 'शीर्षक कहानी अपने नाम के अनुरूप मनोभावों को प्रदर्शित करती है। यह कहानी प्रेमचंद की अन्य कहानियों से भिन्न है। किस्सागोई प्रेमचंद के स्वभाव में है ,पर इस कहानी में वे उससे मुक्त होते दिखाई देते हैं और केवल पात्रों के मनोभावों को उनके कथनों के माध्यम से कहानी में गूंथते चले गए हैं। इस कहानी में गांधी पार्क में बिल्लौर के बेंच पर गहरी नींद में अस्त-व्यस्त सोई हुई एक सुंदर युवती को देखकर युवकों, वृद्धों, युवतियों ,शिक्षितों की प्रतिक्रियाओं को रेखांकित किया गया है- ''रविश पर कितने आदमी चहलकदमी कर रहे हैं ,बूढ़े भी , जवान भी ,सभी एक क्षण के लिए वहाँ ठिठक जाते हैं ,एक नजर वह दृश्य देखते हैं और तब चले जाते हैं। युवक-वृन्द रहस्यभाव से मुस्कुराते हुए , वृद्धजन चिंता-भाव से सिर हिलाते हुए और युवतियां लज्जा से आँखें नीची किए हुए'[6]। पूरी कहानी संवादों के जरिए सामने आती है। ये संवाद कथोपकथन की शैली में हैं, पर लगते स्वगत कथन जैसे हैं –''मैं तो कहती हूँ ,कि स्त्री अपने को छिपाकर पुरुष को जितना नचा सकती है ,अपने को खोल कर नहीं नचा सकती।[7]''

इस कहानी में घटनाओं का घात-प्रतिघात नहीं है, इसीलिए इसका स्वरूप क्रियात्मक नहीं प्रतिक्रियात्मक है। इसके अतिरिक्त प्रेमचंद यहां यह भी दिखाते हैं कि आयु-भेद से प्रतिक्रिया में कोई फर्क नहीं पड़ता। मानसिक अवबोध तो शिक्षा, संस्कार एवं आवश्यकता के अनुरूप निर्मित एवं परिवर्तित होते हैं। वसंत और हाशिम एक ही आयु वर्ग के हैं, पर उनकी प्रतिक्रियाएं भिन्न-भिन्न हैं। उसी प्रकार वकील साहब डॉक्टर साहब में उम्र की समानता के बावजूद विचार की असमानता है। वकील साहब उस स्त्री को किसी भले घर की लड़की बताते हैं, तो डॉक्टर साहब वेश्या ठहरा देते हैं–

''है किसी भले घर की लड़की[8]''

''वेश्या है साहब ,इतना भी नहीं समझते[9]''

प्रेमचंद कहीं तो पात्रों के आत्मकथन के माध्यम से मनोवैज्ञानिक परिस्थितियां उत्पन्न करते हैं तो कहीं टिप्पणीकार के रूप में स्वयं

उपस्थित होकर। वे जानते हैं कि पात्रों के मन के गूढ़ रहस्यों को खोलने में मनोविज्ञान की कितनी महत्वपूर्ण भूमिका है।' नशा 'शीर्षक कहानी बदलते वर्गीय बोध से जुड़े मनोविज्ञान को सामने लाती है। संपन्न या विपन्न वर्ग की वर्गीय चेतना स्थाई नहीं होती। वर्ग बदलने या वर्गीय परिस्थितियां बदलने से पक्षधरता भी बदलती है। आर्थिक परिस्थितियां एवं परिवेश मनुष्य की प्रकृति एवं विचारधारा के नियामक होते हैं। इसी प्रकार 'ईदगाह 'में प्रेमचंद ने इसी आर्थिक विषमता को बाल मनोविज्ञान की सहायता से उभारा है।

ईद के मेले में गए बच्चे बार-बार जेब से अपने पैसे निकाल कर गिनते हैं और खुश होते हैं। बच्चों को वस्तुतः ईद का नहीं बल्कि इसके मेले का इंतजार रहता है। मेला जाने वाले बच्चों में महमूद, मोहसीन, नूरे एवं सम्मी के साथ-साथ चार-पांच साल का गरीब-सूरत ,दुबला-पतला लड़का हामिद भी है। उसके पास केवल तीन पैसे हैं, जिसे वह हिंडोले, मिठाइयों और खिलौनों पर खर्च नहीं करता। अभाव ने उसे समय से पूर्व ही समझदार बना दिया है। हामिद के साथी अपने संचित पैसों से हिंडोले पर चढ़ते हैं तथा खिलौने एवं मिठाईयां खरीदते हैं और छोटे हामिद को चिढ़ा कर उसकी तृष्णा पर परोक्ष आघात करते हैं। हामिद ललचाई आंखों से सब की ओर देखता है और अपने दोस्तों के क्रूर मजाक का जवाब मिठाई और खिलौनों की निंदा करके देता है –"मिट्टी के ही तो हैं, गिरें तो चकनाचूर हो जाएं। [10]"लेकिन उसका बालमन जरा देर के लिए खिलौनों को छूना और हाथ में लेना चाहता है और उन्हें ललचाई आंखों से देखता है। अंततः हामिद अपनी दादी के लिए चिमटा खरीदता है और उसे अपने दोस्तों को दिखाते हुए कहता है- "एक चिमटा जमा दूं ,तो तुम लोगों के सारे खिलौनों की जान निकल जाय।[11]"

प्रेमचंद के पात्र परिस्थितियों के अनुरूप ढलते हैं और समस्या का समाधान करते हैं।' पूस की रात 'में महाजन की निर्दयता एवं ठंड के हमले के नीचे कसमसाते मन की व्यथा चित्रित है। बार-बार चिलम पीने से भी जब शरीर गर्म नहीं हो पाता तो हलकू कुत्ते को उठाकर गोद में रख लेता है। ठंड से बचने का यह उसका नायाब तरीका है। उसकी आत्मा कुत्ते के प्रति करुणा ,प्रेम और आत्मीयता से भर जाती है -"अब किसी तरह न रहा गया ,तो उसने जबरा को धीरे से उठाया और उसके सिर को थपथपाकर उसे अपनी गोद में सुला लिया। कुत्ते की देह से जाने कैसी दुर्गन्ध आ रही थी ,पर वह उसे अपनी गोद से चिमटाये हुए ऐसे सुख का अनुभव कर रहा था ,जो इधर महीनों से उसे न मिला था। जबरा शायद समझ रहा था कि स्वर्ग यही है ,और हलकू की पवित्र आत्मा में तो उस कुत्ते के प्रति घृणा की गंध तक न थी।[12]"

जिस व्यवस्था में मनुष्य मनुष्य का भक्षक है उसमें पशु की हमदर्दी न केवल संबंध विशेष का इजहार करती है ,बल्कि मानव सभ्यता पर करारा प्रहार भी करती है। ठंड से बचने के लिए हल्कू के मन में अंतर्द्वन्द पनपता है जो आशा , लाचारी तथा हास्य का समिश्रित रूप है। लेकिन प्रेमचंद यहां मानो मन की अनुभूतियों को स्वायत्त नहीं रहने देते ,बल्कि अपनी पूरी व्यंजना के साथ व्यवस्था पर आक्रमण करने का हथियार बना लेते हैं।

'ठाकुर का कुआं 'में प्रेमचंद ने मनोविज्ञान की उन बारीकियों को उजागर किया है जो जाति व्यवस्था की भयावहता से उत्पन्न हुई हैं। अछूत गंगी के मन के भीतर विद्रोह है जिस पर भय का आवरण चढ़ा हुआ है। जोखू के मना करने पर भी गंगी अपने बीमार एवं प्यासे पति के लिए ठाकुर के कुएं से पानी लेने जाती है। लेकिन वहां

पहुंचकर कुएं पर किसी के आने की आहट सुनकर उसके मन में भय व्याप्त हो जाता है। इसके बाद इस भय के भीतर से विद्रोह की चिंगारी फूट पड़ती है -''हम क्यों नीच हैं और ये लोग क्यों ऊंच हैं ? इसलिए कि ये लोग गले में तागा डाल लेते हैं। यहाँ तो जितने हैं ,एक-से-एक छंटे है। चोरी ये करें ,जाल-फरेब ये करें ,झूठे मुकदमे ये करें।...किस बात में हैं हमसे ऊंचे ?हां !मुंह में हमसे ऊंचे हैं। [13]''

यह कहानी उस समाज व्यवस्था की पोल खोलती है जो धन और जाति के आधार पर बँटी है। प्रेमचंद मनोविज्ञान का सहारा लेकर इसकी विसंगतियों को और भी अधिक त्रासद बनाते हैं। 'कफन 'शीर्षक कहानी में यह विद्रूपता तब और अधिक उभरकर सामने आती है जब माधव की पत्नी बुधिया के प्रसव वेदना से मरने के बाद वह तथा उसका पिता घीसू कफन के पैसे से शराब पीने लगते हैं। घीसू कहता है'' ,कफन लगने से क्या मिलता है? आखिर जल ही तो जाता है। कुछ बहू के साथ तो न जाता और दोनों बाप बेटे कफन बेच कर दारु पी रहे हैं।[14]''

प्रेमचंद की कहानियों में यह साफ तौर पर दिखाई देता है कि समाज में व्यक्ति को लेकर तथा व्यक्ति और परिवार को लेकर अनेक प्रकार के दंव्द चलते रहते हैं। इसका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव व्यक्ति की चेतना पर पड़ता है और विविध रूपों में प्रतिफलित होता है। मानव मन में सदैव अनेक प्रकार के उहापोह और तर्क-वितर्क चलते रहते हैं। इनके जस-के-तस चित्रण के लिए कहानीकार को मनोविज्ञान का सहारा लेना पड़ता है। ऐसा नहीं करने पर ये चित्र अधूरे रह जायेंगे और जीवन के यथार्थ को रूपायित करने में विफल रहेंगे।

प्रेमचंद ने कहानी को कल्पना की कुहेलिका से निकाल कर यथार्थ के धरातल पर प्रतिष्ठित किया और पात्रों के चरित्र विकास पर दृष्टि केन्द्रित कर कहानी में जन-जीवन के बहुत सारे रंग भर दिए। उनकी कहानियों में मनोविज्ञान ने चरित्रों को विकसित करने में सहायता की और सामाजिक विद्रूपताओं को उघाड़ कर रख दिया। प्रेमचंद मानव मन की दुर्बलताओं से भलीभांति परिचित थे इसीलिए उसकी एक-एक परत अलग कर पाठक के सामने रखने में सफल हुए। मानसिक शिथिलता और दुर्बलता के अवसरों को पहचानने में उनकी बराबरी का कहानीकार खोजना कठिन है।

संदर्भ सूची–

1. समकालीन कहानी : सोच और समझ, पुष्पपाल सिंह, आत्माराम एण्ड संस,1986, पृष्ठ 19-20
2. प्रेमचंद : जीवन और कृतित्व, हंसराज रहबर (अनुवादक), साक्षी पेपर बैक, 1949,पृष्ठ 193
3. मानसरोवर भाग–1, प्रेमचंद, मलिक एण्ड कम्पनी, जयपुर, 2011, प्राक्कथन
4. वही
5. मानसरोवर भाग–1, प्रेमचंद, सरस्वती प्रेस, बनारस, 1947, पृष्ठ 17
6. वही, पृष्ठ 322
7. वही, पृष्ठ 327
8. वही, पृष्ठ 325
9. वही, पृष्ठ 325
10. वही, पृष्ठ 40
11. वही, पृष्ठ 43
12. वही, पृष्ठ 152
13. वही, पृष्ठ 135
14. कफन, प्रेमचंद, डायमन्ड पॉकेट बुक्स, नई दिल्ली, 2004

असिस्टेंट प्रोफेसर
डी.बी.एस. डी.डिग्री कॉलेज, गरखा,
सारण, बिहार

पुस्तक भारती रिसर्च जर्नल

Reg. No. 124726035RC0001
ISSN : 2562-6086
Price : $10.00 - Rs. 200

वर्ष 4, जनवरी–मार्च, 2022 अंक 1

पुस्तक भारती के प्रकाशन

स्वामी, प्रकाशक और मुद्रक : प्रो. रत्नाकर नराले,
पुस्तक भारती, टोरंटो, कनाडा, 180 Torresdale Ave. M2R 3E4 से प्रकाशित.
Email : pustak.bharati.canada@gmail.com * Web: pustak-bharati-canada.com